विषय-सूची ।

जीवन-खंड १—९७

आलोचना-खंड ९८—२४१

वक्तव्य

अपनी भाषा के सर्वश्रेष्ठ महाकवि परम भावुक भक्त-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी की दिव्य और विशाल कृति के मर्म को अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार समझने और उनकी विशेषताओं तक थोड़ा बहुत अपनी दृष्टि ले जाने का यह लघु प्रयत्न उस पूज्य भाव की प्रेरणा से ही समझना चाहिए जो प्रत्येक हिन्दी भाषी के हृदय में उक्त प्रातः स्मरणीय महात्मा के प्रति चिरकाल से प्रतिष्ठित है। इस प्रयत्न का मुझे कहाँ तक अधिकार है, इसका विचार मैं अवश्य न कर सका।

"जीवन-खंड" के संबंध में यह कह देना आवश्यक है कि उसमें प्रायः श्रीयुत बा० श्यामसुन्दरदास जी बी० ए० सम्पादित सटीक रामायण की भूमिका की सामग्री का ही उपयोग किया गया है। इसके लिये उक्त बाबू साहब का मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

रामचन्द्र शुक्ल।

गोस्वामी तुलसीदास

गोस्वामी

तुलसीदासजी

जीवन-खंड

(१) आविर्भाव काल

हम्मीर के समय से चारणों का वीरगाथा-काल समाप्त होते ही हिंदी-कविता का प्रवाह राजकीय क्षेत्र से हटकर भक्तिपथ और प्रेमपथ की ओर चल पड़ा। देश में मुसलमान साम्राज्य के पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाने पर वीरोत्साह के सम्यक् संचार के लिये वह स्वतंत्र क्षेत्र न रह गया; देश का ध्यान अपने पुरुषार्थ और बल-पराक्रम की ओर से हटकर भगवान की शक्ति और दया-दाक्षिण्य की ओर गया। देश का वह नैराश्य-काल था जिसमें भगवान् के सिवा और कोई सहारा नहीं दिखाई देता था। रामानंद और वल्लभाचार्य ने जिस भक्तिरस का प्रभूत संचय किया, कबीर और सूर आदि की वाग्धारा ने उसका संचार जनता के बीच किया। साथ ही कुतवन्, जायसी आदि मुसलमान कवियों ने अपनी प्रबंध-रचना द्वारा प्रेम-पथ की मनोहरता दिखाकर लोगों को लुभाया। इस भक्ति और प्रेम के रंग में देश ने अपना दुःख भुलाया, उसका मन बहला।

भक्तों के भी दो वर्ग थे। एक तो भक्ति के प्राचीन लोक-धर्माश्रित स्वरूप को लेकर चला था; अर्थात् प्राचीन भागवत-सम्प्रदाय के

नवीन विकाश का ही अनुयायी था और दूसरा लोकधर्म से उदासीन तथा समाज-व्यवस्था और ज्ञान-विज्ञान का विरोधी था। यह द्वितीय वर्ग जिस घोर नैराश्य की विषम स्थिति में उत्पन्न हुआ, उसी के सामंजस्य-साधन में संतुष्ट रहा। उसे भक्ति का उतना ही अंश ग्रहण करने का साहस हुआ जितने की मुसलमानों के यहाँ भी जगह थी। मुसलमानों के बीच रहकर इस वर्ग के महात्माओं का भगवान् के उस रूप पर जनता की भक्ति को ले जाने का उत्साह न हुआ, जो अत्याचारियों का दमन करनेवाला और दुष्टों का विनाश कर धर्म को स्थापित करनेवाला है। इससे उन्हें भारतीय भक्तिमार्ग के विरुद्ध ईश्वर के सगुण रूप के स्थान पर निर्गुण रूप ग्रहण करना पड़ा, जिसे भक्ति का विषय बनाने में उन्हें बड़ी कठिनता हुई।

प्रथम वर्ग के प्राचीन परम्परावाले भक्त वेद-शास्त्रज्ञ तत्वदर्शी आचार्यों द्वारा प्रवर्तित संप्रदायों के अनुयायी थे। उनकी भक्ति का आधार भगवान् का लोक-धर्म-रक्षक और लोकरंजक स्वरूप था। इस भक्ति का स्वरूप नैराश्यमय नहीं है; इसमें उस शक्ति का बीज है जो किसी जाति को फिर उठाकर खड़ा कर सकता है। सूर और तुलसी ने इसी भक्ति के सुधारस से सींचकर मुरझाते हुए हिंदू-जीवन को फिर से हरा किया। पहले भगवान् का हँसता-खेलता रूप दिखाकर सूरदास ने हिंदू जाति की नैराश्यजनित खिन्नता हटाई जिससे जीवन में प्रफुल्लता आ गई। पीछे तुलसीदास जी ने भगवान् का लोक-व्यापार-व्यापी मंगलमय रूप दिखाकर आशा और शक्ति का अपूर्व संचार किया। अब हिंदू जाति निराश नहीं है।

घोर नैराश्य के समय हिंदू जाति ने जिस भक्ति का आश्रय लिया, उसी की शक्ति से उसकी रक्षा हुई। भक्ति के सच्चे उद्गार ने ही हमारी भाषा को प्रौढ़ता प्रदान की और मानव-जीवन की सरसता दिखाई। इस भक्ति के विकास के साथ ही साथ इसकी

अभिव्यञ्जना-करनेवाली-वाणी का विकाश भी स्वाभाविक था। अतः सूर और तुलसी के समय हिंदी कविता की जो समृद्धि दिखाई देती है, उसका कारण शाही दरबार की क़द्रदानी नहीं है, बल्कि शाही दरबार की क़द्रदानी का कारण वह समृद्धि है। उस समृद्धि-काल के कारण हैं सूर-तुलसी; और सूर-तुलसी का उत्पादक है इस भक्ति का क्रमशः विकास जिसके अवलंबन थे राम और कृष्ण। लोक-मानस के समक्ष राम और कृष्ण जब से फिर से स्पष्ट करके रखे गए, तभी से वह उनके एक एक स्वरूप का साक्षात्कार करता हुआ उसकी व्यंजना में लग गया। यहाँ तक कि सूरदास तक आते आते भगवान् की लोकरंजन-कारिणी प्रफुल्लता की पूर्ण व्यंजना हो गई। अंत में उनकी अखिल जीवन वृत्ति-व्यापिनी कला को अभिव्यक्त करनेवाली वाणी का मनोहर स्फुरण तुलसी के रूप में हुआ।

इस दिव्यवाणी का यह मंजुघोष घर घर क्या, एक एक हिंदू के हृदय तक पहुँच गया कि भगवान् दूर नहीं हैं, तुम्हारे जीवन में मिले हुए हैं। यही वाणी हिंदू जाति को नया जीवनदान दे सकती थी। उस समय यह कहना कि ईश्वर सब से दूर है, निर्गुण है, निरंजन है, साधारण जनता को और भी नैराश्य के गड्ढे में ढकेलता। ईश्वर बिना पैर के चल सकता है, बिना हाथ के मार सकता है और सहारा दे सकता है, इतना और जोड़ने से भी मनुष्य की वासना को पूरा आधार नहीं मिल सकता। जब भगवान् मनुष्य के पैरों से दीन-दुःखियों की पुकार पर दौड़कर आते दिखाई दें और उनका हाथ मनुष्य के हाथ के रूप में दुष्टों का दमन करता और पीड़ितों को सहारा देता दिखाई दे, उनकी आँखें मनुष्य की आँखें होकर आँसू गिराती दिखाई दें, तभी मनुष्य के भावों की पूर्ण तृप्ति हो सकती है और लोक-धर्म का स्वरूप प्रत्यक्ष हो सकता है। इस भावना का—अँगरेज़ी नामकरण हो जाने पर भी, सभ्यता के आधुनिक इतिहासों में विशेष स्थान स्थिर हो जाने पर भी—हिंदू हृदय से

बहिष्कार नहीं हो सकता। जहाँ हमें दिन दिन बढ़ता हुआ अत्याचार दिखाई पड़ा कि हम उस समय की प्रतीक्षा करने लगेंगे जब वह "रावणत्व" की सीमा पर पहुँचेगा और "रामत्व" का आविर्भाव होगा। तुलसी के मानस से रामचरित की जो शील-शक्ति-सौंदर्यमयी स्वच्छ धारा निकली, उसने जीवन की प्रत्येक स्थिति के भीतर पहुँचकर भगवान् के स्वरूप का प्रतिबिंब झलका दिया। रामचरित की इसी जीवन-व्यापकता ने तुलसी की वाणी को राजा, रंक, धनी, दरिद्र, मूर्ख, पंडित सब के हृदय और कंठ में सब दिन के लिये बसा दिया। किसी श्रेणी का हिंदू हो, वह अपने प्रत्येक जीवन में राम को साथ पाता है—संपत्ति में, विपत्ति में, घर में, वन में, रणक्षेत्र में, आनंदोत्सव में जहाँ देखिए, वहाँ राम। गोस्वामी जी ने उत्तरापथ के समस्त हिंदू जीवन को राममय कर दिया। गोस्वामी जी के वचनों में हृदय को स्पर्श करने की जो शक्ति है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनकी वाणी की प्रेरणा से आज हिंदू जनता अवसर के अनुसार सौंदर्य पर मुग्ध होती है; महत्व पर श्रद्धा करती है, शील की ओर प्रवृत्त होती है, सन्मार्ग पर पैर रखती है, विपत्ति में धैर्य धारण करती है, कठिन कर्म में उत्साहित होती है, दया से आर्द्र होती है, बुराई पर ग्लानि करती है, शिष्टता का अवलंबन करती है और मानव-जीवन के महत्त्व का अनुभव करती है।

हिंदी के राजाश्रित कवि प्रायः अपना और अपने आश्रयदाता का वृत्तांत अपनी पुस्तकों में लिखा करते थे, परंतु गोसाईंजी ने स्वतंत्र होने के कारण ऐसा करने की कोई आवश्यकता न समझी। उन्होंने अपना कुछ भी वृत्तांत नहीं लिखा। कहीं-कहीं अपने चरित्र का जो आभास उन्होंने दिया भी है, वह केवल अपनी दीनता दिखलाने के लिये। किसी किसी ग्रन्थ का समय भी उन्होंने लिख दिया है। इसलिये उनका कुछ जीवन-वृत्त जानने के लिये दूसरे ग्रंथों और किंवदंतियों का ही आश्रय लेना पड़ता है। कहते हैं कि उनका सब से

प्रामाणिक वृत्तांत वेणीमाधवदास कृत गोसाईं-चरित्र में है, जिसका उल्लेख बाबू शिवसिंह सेंगर ने शिवसिंहसरोज में किया है। परंतु खेद का विषय है कि न तो अब वह ग्रंथ ही कहीं मिलता है और न शिवसिंहसरोजकार ने उसका कुछ सारांश ही अपने ग्रंथ में दिया है। अस्तु, उसकी आशा छोड़नी पड़ती है। ऐसा प्रसिद्ध है कि कवि वेणीमाधवदास पसका ग्राम के रहनेवाले थे और गोसाईं जी के साथ रहा करते थे।

दूसरा ग्रंथ नाभाजी का "भक्तमाल" है। यह बात प्रसिद्ध है कि नाभाजी से और गोसाईंजी से वृंदावन में भेंट हुई थी। नाभाजी वैरागी थे और तुलसीदासजी थे स्मार्त वैष्णव, खाने पीने में संयम रखनेवाले। इसलिये पहले दोनों में न बनी; पीछे से तुलसीदास का विनीत स्वभाव देख कर नाभाजी बहुत प्रसन्न हुए। यदि वे उनका कुछ वृत्त लिख गए होते तो बहुत सी बातों का ठीक पता चलता। परंतु उन्होंने चरित्र कुछ भी न लिखकर केवल गोसाईंजी की प्रशंसा में यह छप्पय लिख दिया है—

"कलि कुटिलजीव निस्तारहित बालमीकि तुलसी भयो॥
त्रेता काव्य निबंध करी सत कोटि रमायन।
इक अच्छर उच्चरे ब्रह्महत्यादि परायन॥
अब भक्तन सुख देन बहुरि वपु धरि (लीला) विस्तारी।
रामचरन-रसमत्त रहत अहनिसि ब्रतधारी।
संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लयो।
कलि कुटिल जीव—"

इस छप्पय से गुसाईं जी के विषय में कुछ भी पता नहीं चलता। भक्तमाल में उसके बनने का कोई समय नहीं दिया है, परन्तु अनुमान होता है कि वह ग्रंथ संवत् १६४२ के पीछे और संवत् १६८० के पहले बना होगा; क्योंकि गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के पुत्र गोस्वामी गिरिधरजी का वर्णन उसमें वर्त्तमान क्रिया में किया गया

है*। गिरिधरजी ने श्रीनाथजी की गद्दी की टिकैती अपने पिता के परमधाम पधारने पर संवत् १६४२ में पाई थी। साथ ही गुसाईं तुलसीदासजी का भी उस समय वर्त्तमान रहना जान पड़ता है। क्योंकि "रामचरन रसमत्त रहत अहनिसि व्रतधारी।" इस पद से गोसाईं जी के जीवनकाल में ही भक्तमाल का बनना सिद्ध होता है। यह तो प्रसिद्ध ही है कि गोसाईं जी का परलोकवास संवत १६८० में हुआ। अतएव भक्तमाल के ऊपर दिए हुए पद से केवल यही सिद्ध होता है कि भक्तमाल के बनने के समय (संवत् १६४२) तुलसीदास जी वर्तमान थे।

तीसरा ग्रंथ भक्तमाल पर प्रियादास जी की टीका है। प्रियादास जी ने संवत् १७६९ † में यह टीका नाभा जी की आज्ञा‡ से बनाई

---

* श्री वल्लभज के वंश में सुरतरु गिरिधर भ्राजमान।

† नाभाजू को अभिलाष पूरन लै कियो मैं तो
ताकी साखी प्रथम सुनाई नीके गाइ कै।
भक्ति विश्वास जाके ताही को प्रकाश कीजै
भीजे रंग हियो कीजै तन लड़ाइ कै॥
संवत प्रसिद्ध दस सात सत उनहत्तर
फाल्गुन मास वदी सप्तमी बिताइ कै।
नारायनदास सुखरासि भक्तमाल लै के
प्रियादास दास उर बसौ रहौ छाइ कै॥६२३॥

‡ महा प्रभु कृष्ण चैतन्य मन हरन जू के
चरन को ध्यान मेरे नाम मुख गाइये।
ताही समय नाभा जू ने आज्ञा दई लई
धारि टीका बिस्तारि भक्तमाल की सुनाइये॥
कीजिये कवित्त बंद छंद अति प्यारो लगै
जगै जग माहिं कवि बानी बिरमाइयै।
जानौं निज मति ये पै सुनो भागवत सुक
द्रुमन प्रवेश कियो ऐसेई कहाइयै॥ १ ॥

थी। जो चरित्र उन्होंने भक्त महात्माओं के मुख से सुने थे * उन्हें इसमें उन्होंने विस्तार के साथ लिखा है। प्रियादासजी ने गोसाईंजी का चरित्र इस प्रकार लिखा है—

निसा सो सनेह विन पूछे पिता गेह गई
भूली सुधि देह भजे वाही ठौर आए हैं।
वधू अति लाज भई रिस सों निकस गई
प्रीति राम नई तन हाड़ चाम छाए हैं॥
सुनी जग वात मानों ह्वै गयो प्रभाव वह
पाछे पछिताय तजि काशीपुरी धाए हैं।
कियो तहाँ वास प्रभु सेवा लै प्रकाश कीनो
लीनो दृढ़ भाव नेम रूप के तिसाए हैं॥५००॥
शौच जल शेष पाइ भूतहु विशेष कोऊ
बोल्यो सुख मानि हनुमान जू बताए हैं।
रामायन कथा सो रसायन है कानन को
आवत प्रथम पाछे जात घृणा छाए हैं॥
जाइ पहिचानि संग चले उर आनि आए
वन मध्य जानि धाइ पाइ लपटाए हैं।
करें सीतकार कहीं सकोगे न टारि मैं तो
जाने रससार रूप धस्यो जैसे गाए हैं॥५०१॥

---

* इनहीं के दास दास प्रियादास जानो
तिन लै बखानी मानो टीका सुखदाई है।
गोवर्धननाथ जू के हाथ मन पस्यो जाको
कस्यो वास वृन्दाबन लीला मिलि गाई है॥
मति अनुसार कह्यो लह्यो मुख संतन के
अंत को न पावै जोई गावे हिय आई है।
घट बढ़ि जानि अपराध मेरो छमा कीजै
साधु गुनग्राही यह मानि कै सुनाई है॥६२१॥

माँगि लीजे वर कही दीजे राम भूप रूप
अतिही अनूप नित नैन अभिलाखिए ।
कियो लै सँकेत वाही दिन ही सों लाग्यो
हेत आई सोई समै चेत कवि छवि चाखिए॥
आप रघुनाथ साथ लछुमन चढ़े घोड़े पट
रंग बोरे हरे कैसे मन राखिए ।
पाछे हनुमान आए बोले देखे प्रानप्यारे
नेकु न निहारे मैं तो भले फेरि भाखिए ॥५०२॥
हत्या करि विप्र एक तीरथ करत आयो
कहै मुख राम हत्या डारिए हत्यारे को ।
सुनि अभिराम नाम धाम मैं बुलाइ लियो
दियो लै प्रसाद कियो सुद्ध गायो प्यारे को ।
भई द्विजसभा कहि बोलि कै पठायो आप
कैसे गयो पाप संग लै कै जैये न्यारे को ।
पोथी तुम बाँचो हिये भाव नहिं साँचो अजू
तातें मति काँचो दूरि करै न अँध्यारे को ॥५०३॥
देखी पोथी बाँच नाम महिमा हू कही साँच
ए पै हत्या करै कैसे तरै कहि दीजिए ।
आवै जो प्रतीति कही या के हाथ जेवैं जब
शिव जू के बैल तब पंगति मैं लीजिए ॥
थार मैं प्रसाद दियो चले जहाँ पान कियो
बोले आप नाम के प्रताप मति भीजिए ।
जैसी तुम जानो तैसी कैसे कै बखानो अहो
सुनि कै प्रसन्न पायो जैजै धुनि रीझिए ॥५०४॥
आए निसि चोर चोरी करन हरन धन
देखे श्यामघन हाथ चाप सर लिए हैं ।
जब जब आवै बान साध डरपावै ए तो

अति मंडरावै ए पै वली दूरि किए हैं ।
भोर आय पूछे अजू साँवरो किसोर कौन
सुनि कर मौन रहे आँसु डारि दिए हैं ।
दई सब लुटाइ जानी चौकी रामराई दई
लई उन्ह दिच्छा शिच्छा सुद्ध भए हिए हैं ॥५०५॥
कियो तनु विप्र त्याग लागी चलो संगतिया
दूर ही तें देखि कियो चरन प्रनाम है ।
बोले यों सुहागवती मर्यो पति होहुँ सती
अब तो निकसि गई जाहु सेवो राम है ।
बोलि कै कुटुंब कही जो पै भक्ति करो सही
गही तब बात जीव दियो अभिराम है ।
भए सब साध व्याधि मेटी लै विमुख ताकी
जाकी वास रहै तौन सूझै श्याम धाम है ॥५०६॥
दिल्लीपति बादशाह अहिदी पठाए लैन
ताको सो सुनायो सूनै विप्र ज्यायो जानिए ।
देखिवे को चाहैं नीके सुख सों निबाहे आइ
कही बहु विनय गही चले मन आनिए ।
पहुँचे नृपति पास आदर प्रकास कियो
दियो उच्च आसन लै बोल्यो मृदु बानिए ।
दीजै करामाति जग ख्यात सब मात किए
कही झूठ बात एक राम पहिचानिए ॥५०७॥
देखौं राम कैसे कहि कैद किए किए हिए
हूजिए कृपाल हनुमान जू दयाल हो ।
ताही समै फैल गए कोटि कोटि कपि नए
नोचै तन खैचें चीर भयो यों बिहाल हो ।
फोरैं कोट मारें चोट किए डारैं लोट पोट
लीजै कौन ओट जाइ मानों प्रलय काल हो ।

भई तव आँखें दुख सागर को चाखे अव
वेई हमें राखें भाखें वारौं धन माल हो ॥५०८॥
आइ पाइ लिए तुम दिए हम प्रान आवैं
आप समझावैं करामाति नेक लीजिए।
लाज दवि गयो नृप तव राखि लियो कह्यो
भयो घर राम जू को वेगि छोड़ि दीजिए।
सुनि तजि दियो और कह्यो लैकै कोट
नयो अवहूँ न रहै कोऊ वामें तन छीजिए।
कासी जाइ वृंदावन आइ मिले नाभा जू सों
सुन्यो हो कवित्त निज रीझ मति भीजिए ॥५०९॥
मदनगोपाल जू को दरसन करि कही
सही राम इष्ट मेरे दृग भाव पागी है।
वैसोई सरूप कियो दियो लै दिखाई रूप
मन अनुरूप छवि देखि नीकी लागी है।
काहू कह्यो कृष्ण अवतारी जू प्रशंसा महा
राम अंश सुनि वोले मति अनुरागी है।
दसरथसुत जानों सुन्दर अनूप मानों
ईसता वताई रति कोटि गुनी जागी है ॥५१०॥

प्रियादासजी की टीका के आधार पर राजा प्रतापसिंह ने अपने "भक्तकल्पद्रुम" और महाराज विश्वनाथसिंह ने अपने "भक्तमाल" में गोस्वामीजी के चरित्र लिखे हैं। डाक्टर ग्रिअर्सन ने गोस्वामीजी के विषय में जो नोट इंडियन एंटीकेरी में छपवाए हैं, उनसे भी कुछ वातों का पता लगता है।

मर्य्यादा पत्रिका की ज्येष्ठ १९६९ की संख्या में श्रीयुत इंद्रदेव-नारायणजी ने हिंदी-नवरत्न पर अपने विचार प्रकट करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी के जीवन-संवंध में अनेक वातें ऐसी कही हैं जो अब तक की निर्धारित वातों में बहुत उलट-फेर कर देती हैं।

इस लेख में गोस्वामी तुलसीदासजी के एक नवीन "चरित" का वृत्तांत लिखा है और उससे उद्धरण भी लिए गए हैं। लेख इस प्रकार है—

"गोस्वामीजी का जीवनचरित उनके शिष्य महानुभाव महात्मा रघुवरदासजी ने लिखा है। इस ग्रंथ का नाम "तुलसीचरित" है। यह बड़ा ही वृहद् ग्रंथ है। इसके मुख्य चार खंड हैं—(१) अवध, (२) काशी, (३) नर्मदा और (४) मथुरा। इनमें भी अनेक उपखंड हैं। इस ग्रंथ की संख्या इस प्रकार लिखी हुई है—"चौ० एक लाख तैंतीस हज़ारा। नौ सै बासठ छंद उदारा"। यह ग्रंथ महाभारत से कम नहीं है। इसमें गोस्वामीजी के जीवनचरित-विषयक मुख्य मुख्य वृत्तांत नित्य प्रति के लिखे हुए हैं। इसकी कविता अत्यंत मधुर, सरल और मनोरंजक है। यह कहने में अत्युक्ति नहीं होगी कि गोस्वामीजी के प्रिय शिष्य महात्मा रघुवरदासजी विरचित इस आदरणीय ग्रंथ की कविता श्रीरामचरितमानस के टक्कर की है और यह "तुलसीचरित" बड़े महत्त्व का ग्रंथ है। इससे प्राचीन समय की सभी बातों का विशेष परिज्ञान होता है। इस माननीय वृहद् ग्रंथ के 'अवध खंड' में लिखा है कि जब श्रीगोस्वामीजी घर से विरक्त हो कर निकले, तो रास्ते में रघुनाथ नामक एक पंडित से भेंट हुई और गोस्वामीजी ने उनसे अपना सब वृत्तांत कहा :—

गोस्वामीजी का वचन :—

चौपाई।

काल अतीत यमुन तरनी के। रोदन करत चलेहुँ मुष फीके॥
हिय विराग तिय अपमित वचना। कंठ मोद बैठी निज रचना॥
खींचत त्याग विराग बटोही। मोह गेह दिसि कर सत सोही॥
भिरे जुगल बल बरनि न जाही। स्पंदन बपू खेत वन माहीं॥
तिनिहुँ दिशा अपथ महि काटी। आठ कोस मिसिरन की पाटी॥
पहुँचि ग्राम तट सुतरु रसाला। बैठेहुँ देखि भूमि सुविसाला॥

पंडित एक नाम रघुनाथा । सकल शास्त्र पाठी गुण गाथा ॥
पूजा करत डरत मैं आई । दंड प्रनाम कीन्ह सकुचाई ॥
सो मोहि कर चेष्टा सनमाना । बैठि गयऊँ महितल भय माना ॥
बुध पूजा करि मोहि बुलावा । गृह वृत्तांत पूछब मनभावा ॥

*   *   *   *

जुवा गौर शुचि गढ़नि विचारी । जनु विधि निज कर आपु सँवारी ॥
तुम बिसोक आतुर गति धारी । धर्मशील नहिं चित्त विकारी ॥
देखत तुम्हहिं दूरि लगि प्रानी । अदभुत सकल परस्पर मानी ॥
तात मात तिय भ्रात तुम्हारे । किमि न तात तुम्ह प्रान-पियारे ॥
कुटुम परोस मित्र कोउ नाँही । किधौं मूढ़ पुर वास सदाही ॥
सन्यपात पकरे सब ग्रामा । चले भागि तुम तजि वह ठामा ॥
तब यात्रा विदेश कर जानी । विदरि हृदय किमि मरे अयानी ॥
चित्त वृत्ति तुव दुख मह ताता । सुनत न जगत व्यक्त सब बाता ॥
मोते अधिक कहत सब लोगा । अजहुँ जुरे देखत तरु योगा ॥
कहाँ तात ससुरारि तुम्हारी । तुम्हहिं धाय नहिं गहे अनारी ॥
जाति पाँति गृह ग्राम तुम्हारा । पिता पीठि का नाम अचारा ॥

दोहा—कहहु तात दस कोस लगि, विप्रन को व्यवहार ।
मैं जानत भलि भाँति सब, सत अरु असत विचार ॥
चले अश्रु गदगद हृदय, सात्विक भयो महान ।
भुवि नख रेख लग्यौं करन, मैं जिमि जड़ अज्ञान ॥

चौपाई ।

दया शील बुधवर रघुराई । तुरत लीन्ह मोहि हृदय लगाई ॥
अश्रु पोंछि बहु दोष देवाई । बिसे बीस सुत मम समुदाई ॥
लखौं चिह्न मिश्रन सम तोरा । विसुचि मंजु मम गोत्र किशोरा ॥
जनि रोवसि प्रिय बाल मतीशा । मेटहिं सकल दुसह दुख ईशा ॥
धीरज धरि मैं कथन विचारा । पुनि बुध कीन्ह विविध सतकारा ॥
परशुराम परपिता हमारे । राजापुर सुख भवन सुधारे ॥

प्रथम तीर्थयात्रा महँ आए। चित्रकूट लखि अति सुख पाए॥
कोटि तीर्थ आदिक मुनि वासा। फिरे सकल प्रमुदित गत आसा॥
वीर मरुतसुत आश्रम आई। रहे रैनि तहँ अति सुख पाई॥
परशुराम सोए सुख पाई। तहँ मारुतसुत स्वप्न देखाई॥
वसहु जाय राजापुर ग्रामा। उत्तर भाग सुभूमि ललामा॥
तुम्हरे चौथ पीठिका एका। तप समूह मुनि जन्म विवेका॥
दम्पति तीरथ भ्रमे अनेका। जानि चरित अद्भुत गहि टेका॥
दम्पति रहे पल्ल एक तहँवाँ। गए कामदा शृङ्ग सु जहँवाँ॥
नाना चमतकार तिन्ह पाई। सीतापुर नृप के ढिग आई॥
राजापुर निवास हित भाषा। कहे चरित कुछ गुप्त न राखा॥
तरिवनपुर तेहि की नृपधानी। मिश्र परशुरामहिं नृप आनी॥

दोहा—अति महान विद्वान लखि, पठन शास्त्र षट् जासु।
वहु सन्माने भूप तहँ, कहि द्विज मूल निवासु॥
सरयू के उत्तर वसत, मंजु देश सरवार।
राज मझवली जानिये, कसया ग्राम उदार॥
राजधानि ते जानिए, क्रोश विंश त्रय भूप।
जन्मभूमि मम और पुनि, प्रगट्यौ वौध स्वरूप॥

चौपाई।

वौध स्वरूप पँड़ ते भारी। उपल रूप महि दीन वलारी॥
जैनाभास चल्यो मत भारी। रक्षा जीव पूर्ण परिचारी॥
हेम सुकुल तेहि कुल के पण्डित। क्षत्री धर्म सकल गुण मण्डित॥
मैं पुन गाना मिश्र कहावा। गणपति भाग यज्ञ मँह पावा॥
मम विनु महावंश नहि कोई। मैं पुनि विन सन्तान जो सोई॥
तिरसठि अब्द देह मम राजा। तिमि सम पलि जानि मति भ्राजा॥
खचित स्वप्नवत लखि नरलोका। तीरथ करन चलेहुँ तजि सोका॥
चित्रकूट प्रभु आज्ञा पावा। प्रगट स्वप्न वहु विधि दरसावा॥
भूप मानि मैं चलेहुँ रजाई। राजापुर निवास की ताई॥

निर्धन वसव राजपुर जाई। वृत्त कलिन्दि तीर सत्रुपाई॥
नगर गेह सुख मिले कदापी। वसव न होंहि जहाँ परितापी॥
अति आदर करि भूप वसावा। वाममार्ग पथ शुद्ध चलावा॥
स्वाद त्यागि शिव शक्ति उपासी। जिनके प्रगट शम्भु गिरिवासी॥
परशुराम काशी तन त्यागे। राम मन्त्र अति प्रिय अनुरागे॥
शम्भु कर्णगत दीन सुनाई। चढ़ि विमान सुरधाम सिधाई॥
तिनके शंकर मिश्र उदारा। लघु पण्डित प्रसिद्ध संसारा॥

दोहा—परशुराम जू भूप को, दान भूमि नहिं लीन।
शिष्य मारवाड़ी अमित, धन गृह दीन्ह प्रवीन॥
वचन सिद्धि शंकर मिसिर, नृपति भूमि वहु दीन।
भूप रानि अरु राज नर, भए शिष्य मति लीन॥
शंकर प्रथम विवाह ते, वहु सुत करि उत्पन्न।
द्वै कन्या द्वै सुत सुवुध, निसि दिन ज्ञान प्रसन्न॥

चौपाई।

जोपित मृतक कोन अनु व्याहा। ताते मोरि साख वुध नाहा॥
तिनके संत मिश्र द्वै भ्राता। रुद्रनाथ एक नाम जो ख्याता॥
सोउ लघु वुध शिष्यन्ह महँ जाई। लाय द्रव्य पुनि भूमि कमाई॥
रुद्रनाथ के सुत भे चारी। प्रथम पुत्र को नाम मुरारी॥
सो मम पिता सुनिय वुध त्राता। मैं पुनि चारि सहोदर भ्राता॥
ज्येष्ठ भ्रात मम गणपति नामा। ताते लघु महेस गुण धामा॥
कर्मकाण्ड पण्डित पुनि दोऊ। अति कनिष्ठ मंगल कहि सोऊ॥
तुलसी तुलाराम मम नामा। तुला अन्न धरि तौलि स्वधामा॥
तुलसिराम कुल गुरू हमारे। जन्मपत्र मम देखि विचारे॥
हस्त प्रास पण्डित मतिधारी। कह्यो वाल होइहिं व्रतधारी॥
धन विद्या तप होय महाना। तेजराशि बालक मतिमाना॥
भरतखंड एहि सम एहि काला। नहिं महान कोउ परमति शाला॥
करहिं खचित नृपगन गुरुवाई। वचन सिद्ध खलु रहहिं सदाई॥

अति सुन्दर सरूप सित देहा । बुध मंगल भाग्यस्थल गेहा ॥
ताते यह विदेह सम जाई । अति महान पदवी पुनि पाई ॥
पंचम केतु रुद्र गृह राहू । जतन सहस्र वंश नहि लाहू ॥

दोहा—राजयोग दोउ सुख सुपहि, होंहि अनेक प्रकार ।
अब्दै दया मुनीस कोउ, लियो जन्म घर बार ॥

चौपाई ।

प्रेमहि तुलसि नाम मम राखी । तुलारोह तिय कहि अभिलाषी ॥
मातु भगिनि लघु रही कुमारी । कौन व्याह सुंदरी विचारी ॥
चारि भ्रात द्व भगिनि हमारे । पिता मातु मम सहित निसारे ॥
भ्रात पुत्र कन्या मिलि नाथा । षोडस मनुज रहे एक साथा ॥

* * * *

चानी विद्या भगिनि हमारी । धर्म शील उत्तम गुण धारी ॥

* * * *

दोहा—अति उत्तम कुल भगिनि सब व्याही अति कुशलात ।
हस्त ग्राम पंडितन्ह गृह, व्याहे सब मम भ्रात ॥

चौपाई ।

मोर व्याह द्वै प्रथम जो भयऊ । हस्त ग्राम भार्गव गृह ठयऊ ॥
भई स्वर्गवासी दोउ नारी । कुलगुरु तुलसि कहेउ व्रतधारी ॥
तृतिय व्याह कंचनपुर माही । सोइ तिय वच विदेश अवगाही ॥
अहो नाथ तिन्ह कीन्ह खोटाई । मात भ्रात परिवार छोड़ाई ॥
कुल गुरु कथन भई सब साँची । सुख धन गिरा अवर सब काँची ॥
सुनहु नाथ कंचनपुर ग्रामा । उपाध्याय लछिमन अस नामा ॥
तिनकी सुता बुद्धिमति एका । धर्मशील गुनपुंज विवेका ॥
कथा-पुराण-श्रवण बलभारी । अति कन्या सुंदरि मति धारी ॥

दोहा—मोह विप्र बहु द्रव्य लै, पितु मिलि करि उत्साह ।
यदपि मातु पितु सों विमुख, भयो तृतिय मम व्याह ॥

* * * *

चौपाई ।

निज विवाह प्रथमहि करि जहवाँ । तीन सहस्र मुद्रा लिय तहवाँ ॥
षट् सहस्र ले मोहि विवाहे । उपाध्याय कुल पावन चाहे ।

ऊपर लिखे हुए पदों का सारार्थ यह है कि सरयू नदी के उत्तर भागस्थ सरवार देश में मझौली से तेइस कोस पर कसया ग्राम में गोस्वामी के प्रपितामह परशुराम मिश्र का जन्मस्थान था और वहीं के वे निवासी थे। एक बार वे तीर्थयात्रा के लिये घर से निकले और भ्रमण करते हुए चित्रकूट में पहुँचे। वहाँ हनुमानजी ने स्वप्न में आदेश दिया कि तुम राजापुर में निवास करो, तुम्हारी चौथी पीढ़ी में एक तपोनिधि मुनि का जन्म होगा। इस आदेश को पाकर वे परशुराम मिश्र सीतापुर में उस प्रांत के राजा के यहाँ गए और उन्होंने हनुमानजी की आज्ञा को यथातथ्य राजा से कहकर राजापुर में निवास करने की इच्छा प्रकट की। राजा इनको अत्यंत श्रेष्ठ विद्वान् जानकर अपने साथ तीखनपुर अपनी राजधानी में ले आए और बहुत सम्मानपूर्वक उन्होंने राजापुर में निवास कराया। तिरसठ वर्ष की अवस्था तक उनके कोई संतान नहीं हुई; इससे वह बहुत खिन्न होकर तीर्थयात्रा को गए तो पुनः चित्रकूट में स्वप्न हुआ और राजापुर लौट आए। उस समय राजा उनसे मिलने आया। तदनंतर उन्होंने राजापुर में शिव-शक्ति के उपासकों की आचरण-भ्रष्टता से दुःखित हो राजापुर में रहने की अनिच्छा प्रकट की; परंतु राजा ने इनके मत का अनुयायी होकर बड़े सम्मानपूर्वक इनको रक्खा और भूमिदान दिया; परंतु इन्होंने ग्रहण नहीं किया। इनके शिष्य मारवाड़ी बहुत थे; उन्हीं लोगों के द्वारा इनको धन, गृह और भूमि का लाभ हुआ। अंत काल में काशी जाकर इन्होंने शरीर त्याग किया। ये गाना के मिश्र थे और यज्ञ में गणेशजी का भाग पाते थे।

इनके पुत्र शंकर मिश्र हुए, जिनको वाक्‌सिद्धि प्राप्त थी। राजा और रानी तथा अन्यान्य राजवर्ग इनके शिष्य हुए और राजा से

इन्हें बहुत भूमि मिली। इन्होंने दो विवाह किए। प्रथम से आठ पुत्र और दो कन्याएँ हुईं; दूसरे विवाह से दो पुत्र हुए (१) संत मिश्र, (२) रुद्रनाथमिश्र। रुद्रनाथ मिश्र के चार पुत्र हुए। सब से बड़े मुरारी मिश्र थे। इन्हीं महाभाग्यशाली महापुरुष के पुत्र गोस्वामीजी हुए।

गोस्वामीजी चार भाई थे (१) गणपति, (२) महेश, (३) तुलाराम, (४) मंगल।

यही तुलाराम तत्त्वाचार्यवर्य भक्तचूड़ामणि गोस्वामीजी हैं। इनके कुलगुरु तुलसीराम ने इनका नाम तुलाराम रक्खा था। गोस्वामीजी के दो बहिनें भी थीं। एक का नाम वाणी और दूसरी का विद्या था।

गोस्वामीजी के तीन विवाह हुए थे। प्रथम स्त्री के मरने पर दूसरा विवाह हुआ और दूसरी स्त्री के मरने पर तीसरा। यह तीसरा ब्याह कंचनपुर के लक्ष्मण उपाध्याय की पुत्री बुद्धिमती से हुआ। इस विवाह में इनके पिता ने छः हज़ार रुपए लिए थे। इसी स्त्री के उपदेश से गोस्वामीजी विरक्त हुए।"

इस ग्रंथ में दी हुई घटनाएँ और किसी ग्रंथ में नहीं मिलतीं। इसमें सन्देह नहीं कि यदि यह चरित गोस्वामी तुलसीदास जी के शिष्य महात्मा रघुवरदास जी का लिखा है, तो इसमें दी हुई घटनाएँ अवश्य प्रामाणिक होंगी। परंतु इस ग्रंथ का पहला उल्लेख मर्यादा पत्रिका में ही हुआ है तथा अन्य किसी महाशय को इस ग्रंथ के देखने, पढ़ने या जाँचने का अब तक सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ। इस अवस्था में जो जो बातें उक्त लेख से विदित होती हैं, उनका उल्लेख कर देना ही पर्याप्त होगा। उनके विषय में निश्चित रूप से अभी कुछ नहीं कहा जा सकता।

(२) जन्म और कुल

गोस्वामी तुलसीदास जी का जन्म-काल किसी ग्रंथ में लिखा नहीं मिलता। पंडित रामगुलाम द्विवेदी की सुनी-सुनाई बातों के अनुसार उनका जन्म संवत् १५८९ में कहा जाता है। डा० ग्रिअर्सन ने इसे ठीक माना है। पर शिवसिंहसरोज में लिखा है कि वे संवत् १५८३ के लगभग उत्पन्न हुए थे। पहले से गोसाईं जी की आयु ९१ और दूसरे से ९७ वर्ष आती है। अब तक विद्वानों ने गोसाईं जी का जन्म संवत् १५८९ ही माना है।

श्रीयुत इन्द्रदेवनारायणजी इस सम्बंध में लिखते हैं:—"श्रीगोस्वामी की शिष्य-परंपरा की चौथी पुश्त में काशी-निवासी विद्वद्वर श्रीशिवलालजी पाठक हुए, जिन्होंने वाल्मीकीय रामायण पर संस्कृत भाष्य तथा व्याकरणादि विषय पर भी अनेक ग्रंथ निर्माण किए हैं। उन्होंने रामचरितमानस पर भी मानसमयंक नामक तिलक रचा है। उसमें लिखा है—

दोहा—मन(४) ऊपर शर(५) जानिये, शर(५) पर दीन्हें एक(१)।
तुलसी प्रगटे रामवत, राम जन्म की टेक॥
सुने गुरू ने बीच शर(५), सन्त बीच मन(४०) गान।
प्रगटे सतहत्तर परे, ताते कहे चिरान॥

अर्थात् १५५४ सं० में गोस्वामी जी प्रकट हुए और पाँच वर्ष की अवस्था में गुरु से कथा सुनी। पुनः चालीस वर्ष की अवस्था में सन्तों से भी वही कथा सुनी और उन्होंने सतहत्तरवें वर्ष के बाद अठहत्तरवें वर्ष में रामचरित मानस की रचना आरंभ किया। उनकी अठहत्तर वर्ष की अवस्था संवत् १६३१ में थी और १६८० संवत् में वे परमधाम सिधारे। इस प्रकार १५५४ में ७७ जोड़ने से १६३१ संवत् हुआ। संवत् १५५४ वाँ साल मिलाकर अठहत्तर वर्ष की अवस्था

गोस्वामीजी की थी जब मानस आरंभ हुआ और १२७ वर्ष की दीर्घ आयु भोगकर स्वामी जी परमधाम सिधारे।"

१२७ वर्ष की आयु होना कोई असंभव बात नहीं है। पर यह भी संभव है कि 'मानसमयंक' में जो दोहे हैं, उनका पाठ ठीक न हो। यह नहीं कहा जा सकता कि महात्मा रघुवरदास जी ने अपने तुलसी चरित में गोस्वामी जी के जन्म का कोई संवत् दिया है या नहीं। इस अवस्था में यह बात बड़ी सन्दिग्ध हो जाती है और निश्चय-पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। जो कुछ हम दृढ़ता-पूर्वक अब कहने में समर्थ हैं, वह इतना ही है कि *गोस्वामी जी का जन्म विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में* हुआ और वे बड़ी आयु भोगकर परमधाम को सिधारे।

इनके जन्म-स्थान के विषय में भी कहीं कोई लिखा प्रमाण नहीं मिलता। कोई कहता है कि इनका जन्म तारी में हुआ। कुछ लोगों के मुँह से हस्तिनापुर भी इनका जन्म-स्थान सुना जाता है, पर कौन हस्तिनापुर यह पता नहीं। कोई चित्रकूट के पास हाजीपुर और कोई बाँदा ज़िले में राजापुर को इनका जन्म-स्थान बतलाता है। बहुत से लोग तारी को प्रधानता देते हैं। परंतु पं० रामगुलाम के मत से इनका जन्मस्थान राजापुर ही है। शिवसिंह-सरोज में भी पं० वेणीमाधवदास के आधार पर इसी स्थान को माना है, तथा महात्मा रघुवरदास जी के लेख से भी यही प्रमाणित होता है। इसके अतिरिक्त राजापुर में गोस्वामी जी की कुटी, मंदिर आदि हैं। अतः जब तक कोई विरुद्ध प्रमाण न मिले, गोस्वामी जी का जन्म राजापुर में ही मानना चाहिए।

तुलसीदास जी ब्राह्मण थे, इसमें तो किसी को कोई संदेह नहीं। विनय-पत्रिका में उन्होंने स्वयं लिखा है कि "दियो सुकुल जन्म शरीर सुंदर हेतु जो फल चारि को"। पर वे कौन ब्राह्मण थे, यह निश्चित होते हुए भी कुछ लोग मतभेद प्रकट करते हैं।

राजा प्रतापसिंह ने भक्त-कल्पद्रुम में इन्हें कान्यकुब्ज लिखा है, पर शिवसिंह-सरोज में इनको सरयूपारी माना है। डाक्टर ग्रिअर्सन पं० रामगुलाम द्विवेदी के आधार पर इन्हें पराशर गोत्र सरयूपारी दूबे लिखते हैं। "तुलसी पराशर गोत दूबे पतिऔजा के" ऐसा प्रसिद्ध भी है। तुलसीचरित में भी ये सरवरिया कहे गए हैं। अतः इनका सरयूपारी होना सिद्ध है।

हिन्दी-नवरत्न में लिखा है कि "इनको सरयूपारीण मानने में दो आपत्तियाँ हैं। एक यह कि पूरा ज़िला बाँदा में और राजापुर के इर्द गिर्द कान्यकुब्ज द्विवेदियों की बस्ती है न कि सरवरिया ब्राह्मणोंकी। सो यदि गोस्वामी जी द्विवेदी थे तो उनका कान्यकुब्ज होना विशेष माननीय है। दूसरे इनका विवाह पाठकों के यहाँ हुआ था, जिनका कुल सरवरिया ब्राह्मणों में बहुत ऊँचा है और द्विवेदियों का उनसे नीचा। सो पाठकों की कन्या द्विवेदियों के यहाँ नहीं ब्याही जा सकती, क्योंकि कोई भी उच्च वंशवाला मनुष्य अपनी कन्या नीच कुल में नहीं ब्याहता। कनौजियों में पाठकों का घराना द्विवेदियों से नीचा है। अतएव पाठकों की लड़कियों का द्विवेदियों के यहाँ ब्याहा जाना उचित है।"

ये दोनों आपत्तियाँ निराधार हैं। चित्रकूट के आस पास से लेकर बघेलखंड और जबलपुर के आगे तक सरयूपारियों की बस्ती चली गई है। चित्रकूट और राजापुर के आस पास जहाँ देखिए वहाँ गाँव के गाँव सरवरिया ही बसे मिलेंगे। अब रही दूसरी आपत्ति। सरयूपारी का बच्चा बच्चा भी जानता है कि पाठक, चौबे और उपाध्याय सरवरियों की नीची श्रेणी में हैं। कुलीन सरवरिया उनके यहाँ बेटे का ब्याह भी नहीं करते। द्विवेदियों का कुल पाठकों के कुल से बहुत ऊँचा समझा जाता है।

हमारे विचार में तो यह आता है कि महात्मा रघुवरदास जी ने 'तुलसीचरित' में गोस्वामी जी की जो कुल-परंपरा लिखी है, वह

मानने योग्य है। सरवार की रीति नीति का जैसा परिचय 'राम-चरित मानस' 'जानकी मंगल' 'पार्वती मंगल' में मिलता है, वह उक्त प्रदेश के साथ उससे अधिक संबंध सूचित करता है जो कुछ दिन अयोध्यावास के कारण कहा जा सकता है। तुलसीचरित से प्रकट होता है तुलसीदास जी के प्रपितामह ही कसया छोड़कर राजापुर में आए। गाना के मिश्र सरयूपारियों में बहुत कुलीन हैं। जिस घराने को सरजूपार छोड़े इतने थोड़े दिन हुए थे, उसको अपना संबंध वहाँ से बनाए रखना कुलीनता के विचार से आवश्यक था। ऐसे घराने अपने मूल-स्थान की रीति भाँति ही नहीं, वहाँ की भाषा भी अपने घर के भीतर की बोल चाल में बनाए रखते हैं। यद्यपि चित्रकूट और राजापुर प्रांत में भी अवधी ही बोली जाती है, पर अयोध्या के आसपास की शुद्ध पूरबी अवधी की अपेक्षा उसमें कुछ पछाहियाँपन है। पूरबी अवधी पर जैसा अधिकार गोस्वामी जी का दिखाई पड़ता है, वैसा बिना उस बोली के व्यावहारिक अभ्यास के नहीं हो सकता। पूरबी बोली की सब से अधिक विशेषता यह है कि उसमें कारक चिह्न-रहित कर्मवाली भूतकालिक सकर्मक क्रिया का रूप भी कर्त्ता के पुरुष, लिंग और वचन के अनुसार होता है।

उत्तम पुरुष एकवचन—"मैं जानेउँ (=मैंने जाना) उ० जानेउँ मरमु राउ हँसि कहई।

" बहुवचन—"हम जाना" (=हमने जाना) उ० अब भा भरम सत्य हम जाना।

मध्यम पुरुष एकवचन—"तैं जगाएसि" (=तू ने जगाया) उ०—प्रथमहिं कस न जगाएसि आई।

" बहुवचन—"तुम कहेहु या कह्यो" (=तुमने कहा) उ०—देन कहेहु बरदान दुइ।

प्रथम पुरुष एकवचन—"ऊ प्रगटेसि" (=उसने प्रगटा) उ०—प्रगटेसि तुरत रुचिर ऋतुराजा।

" बहुवचन—"वै पठइन" (=उन्होंने पठाया) उ०—देवन ......पठइन, आइ कही तेइ वाता ।

पुरुष-भेद के समान लिंगभेद भी कर्त्ता के अनुसार इन रूपों में होगा। जैसे "जानेउँ" का "जानिउँ", "कहेहु" का "कहिहु या कहिउ" उदाहरण—जनमि जगत जस प्रगटिहु मातु पिता कर (=तुमने प्रकट किया)

यदि पूरबी अवधी साहित्य की भाषा होती तो उसके इन प्रयोगों का परिचय पठन-पाठन द्वारा भी कहा जा सकता था। ये पूरबी रूप जायसी की 'पद्मावत' में भी नहीं आए हैं। रामचरित मानस में तो पच्छिमी और पूरबी दोनों अवधी के रूप मिलते हैं। पर 'पार्वती मंगल' और 'जानकी मंगल' शुद्ध पूरबी अवधी में लिखे गए हैं जो अयोध्या के आस पास गोंडे और बस्ती तक बोली जाती है। कुछ शब्द भी ऐसे आए हैं जो उसी प्रदेश में बोले जाते हैं; जैसे, "कूटि करना" = ठट्ठा करना (करहिं कूटि नारदहिं सुनाई); "सरवँ करना" कसरत करना (सरवँ करहिं, पायक फहराहीं); 'फुर'=सच; 'राउर'=आपका इत्यादि। और देखिए, सरवार में "दही चिउड़ा" की चाल बहुत है। यह भोज में भी चलता है, संबंधियों के यहाँ भी भेजा जाता है और रास्ते में संबल का काम भी देता है। महाराज जनक के यहाँ से बरात के लिये जो सामान आया, उसमें गोस्वामी जी "दधि चिउरा" का नाम लेना नहीं भूले—"दधि चिउरा उपहार अपारा। भरि भरि काँवरि चले कहाँरा"।

इन बातों से सिद्ध होता है कि यदि राजापुर ही तुलसीदास जी का जन्म-स्थान था, तो वहाँ उनके घराने को सरयूपार से गए थोड़े ही दिन हुए थे और उस घराने का संबंध सरवार से बना था। राजापुर के संबंध में दो बातों के कारण कुछ संदेह उठते हैं—

(१) राजापुर में जो स्थान है, वह कुटी है और उसमें उनके कुलवाले नहीं रहते। विरक्त हो जाने पर उन्हें अपनी जन्म-भूमि पर कुटी बनाने की क्या आवश्यकता थी?

(२) बाल्यावस्था में वहाँ से वे गुरु से कथा सुनने 'सूकर खेत' कैसे गए जो अयोध्या के ही आस पास है ? यह पछाँहवाला सूकर खेत नहीं है। यदि वे दीक्षा-गुरु थे और साधु थे, तब तो लड़कपन ही में उनका साधु होकर निकल जाना ठहरता है और पत्नी के उपदेश की बात कल्पना ही ठहरती है। यदि विद्या-गुरु थे तो वहाँ उतनी दूर उस छोटी अवस्था में जाने का कारण नहीं खुलता। यह हो सकता है कि वे कुल-गुरु रहे हों और तुलसीदास जी के पिता सपरिवार उनके साथ अयोध्या तीर्थ करते हुए वहाँ भी स्नान करने चले गए हों।

गोस्वामी जी ने स्पष्ट रूप से कहीं अपने ग्रंथों में अपने माता-पिता का नाम नहीं लिखा है। लोक में यह बात प्रसिद्ध है कि इनके पिता का नाम आत्माराम दुबे था और माता का हुलसी। नीचे लिखा यह दोहा इसके प्रमाण में उद्धृत किया जाता है—

सुरतिय, नरतिय, नागतिय, सब चाहत अस होय।
गोद लिए हुलसी फिरै तुलसी सों सुत होय॥

इस दोहे की दूसरे पंक्ति रहीम खानखाना की बनाई कही जाती है। लोगों का कथन है कि इसमें "हुलसी" शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, इनकी माता का नाम भी हुलसी था। यह कथन केवल अनुमान है। इसकी पुष्टि और कहीं से नहीं होती। "तुलसी चरित" में स्पष्ट लिखा है कि तुलसीदास ने स्वयं कहा है कि—

... ...। परसुराम परपिता हमारे॥
तिनके शंकर मिश्र उदारा। लघुपंडित प्रसिद्ध संसारा॥
शंकर प्रथम विवाह ते बहु सुत करि उत्पन्न।
द्वै कन्या द्वै सुत सुबुध, निशि दिन ज्ञान प्रसन्न॥
तिनके संत मिश्र द्वै भ्राता। रुद्रनाथ एक नाम जो ख्याता।
रुद्रनाथ के सुत भे चारी। प्रथम पुत्र को नाम मुरारी॥
सो मम पिता सुनिय बुध ज्ञाता। मैं पुनि चारि सहोदर भ्राता।

ज्येष्ठ भ्रात मम गणपति नामा। तातें लघु महेश गुणधामा॥
कर्मकांड पंडित पुनि दोऊ। अति कनिष्ट मंगल कहि सोऊ।
बानी विद्या भगिनी हमारी। धर्म शील उत्तम गुण धारी॥

इससे यह स्पष्ट है कि तुलसीदास जी के प्रपितामह परशुराम मिश्र थे, जिनके पुत्र शंकर मिश्र हुए। इनके दो पुत्र संत मिश्र और रुद्रनाथ मिश्र हुए। रुद्रनाथ मिश्र के चार पुत्र और दो कन्याएँ हुईं। पुत्रों के नाम गणपति, महेश, तुलाराम और मंगल और कन्याओं के वाणी और विद्या थे। ये तुलाराम हमारे चरित्रनायक गोस्वामी तुलसीदास जी हैं।

विनय-पत्रिका में तुलसीदास जी स्वयं लिखते हैं "राम को गुलाम नाम रामबोला राम राख्यो।" इससे इनका एक नाम रामबोला होना भी स्पष्ट है। पर तुलसीचरित में लिखा है—

तुलसी तुलाराम मम नामा। तुला अन्न धरि तौलि सधामा॥
तुलसि-राम कुलगुरू हमारे। जन्मपत्र मम देखि विचारे॥
प्रेमहिं तुलसि नाम मम राखी। तुलारोह तिय कहि अभिलाषी॥

इससे यही बात ठहरती है कि इनका नाम तुलाराम था, जिसे कुलगुरू ने तुलसीराम कर दिया। पीछे साधु होने पर ये तुलसीदास के नाम से प्रसिद्ध हुए। विनय-पत्रिकावाले पद का यही अर्थ है कि राम ने अपना बोल दिया, अर्थात् अपना लिया। 'बाह बोल' आदि शब्द और स्थलों पर भी गोस्वामी जी लाए हैं।

कवितावली में तुलसीदास जी लिखते हैं—

मातु पिता जग जाइ तज्यो बिधि हू न लिख्यो कछु भाल भलाई।

विनय-पत्रिका में भी तुलसीदास जी लिखते हैं—

"नाम राम रावरो हित मेरे"।
स्वारथ परमारथ साथिन सों भुज उठाय कहौं टेरे।
जनक जननि तज्यो जननि करम बिनु बिधि सिरज्यो अवडेरे।
मोहु से कोउ कहत राम को, सो प्रसंग केहि केरे।

फिर्यो ललात बिन नाम उदर लगि दुखहु दुखित मोरि हेरे ।
नाम-प्रसाद लहत रसाल फल अब हौं बबुर बहेरे ।
साधत साधुलोक परलोकहि सुनि गुनि जनत घनेरे ।
तुलसी के अवलंब नाम ही की एक गाँठि केइ फेरे ॥"
"द्वार द्वार दीनता कही काढ़ि रद परि पाहूँ ।
है दयाल दुनी दसौ दिशा दुख दोष-दलन छमि कियो न संभाषन काहूँ ।
तनु तज्यो कुटिल कीट ज्यौं तज्यो माता-पिता हूँ ।
काहे को रोस दोस काहि धौं मेरे ही अभाग मोसों सकुचत सब छुइ छाहूँ ।
दुखित देख संतन कहेउ सोचै जनि मन माहूँ ।
तोसे पसु पाँवर पातकी परिहरे न सरन गए रघुबर ओर निबाहूँ ।
तुलसी तिहारो भए भयो सुखी प्रीति प्रतीति निबाहूँ ।
नामको महिमा सीलुनाथ को मेरो भलो बिलोकि अबते सकुचाहुँ सिहाहूँ॥"

इन उद्धृत पद्यों से झलकता है कि माता-पिता ने इन्हें छोड़ दिया था। पंडित सुधाकर द्विवेदी के आधार पर डाक्टर ग्रिअर्सन अनुमान करते हैं कि अभुक्त मूल में जन्म होने के कारण इनके माता पिता ने इन्हें त्याग दिया था। मूल में जन्मे लड़कों की मूल-शांति और गोमुख-प्रसव शांति भी शास्त्र के लेखानुसार होती है; कोई लड़के अनाथ की तरह नहीं छोड़ दिए जाते। इस छोड़ने का मतलब या तो यह हो कि काम-धंधे में मन न लगाते देख या तो माता पिता ने इन्हें अलग कर दिया हो अथवा उनकी बाल्यावस्था में ही वे मर गए हों। प्रथम अनुमान की पुष्टि विनयपत्रिका के इस पद से कुछ कुछ होती है—स्वारथ के साथिन तज्यो तिजरा को सो टोटक औचट उलटि न हेरो। तुलसी चरित से भी केवल इनका माता-पिता से विमुख होना ही सूचित होता है—

..............................। कुलगुरु तुलसि कह्यो ब्रतधारी ॥
तृतीय ब्याह कंचन पुर माहीं। सोइ तिय बच बिदेश अवगाहीं ॥
अहो नाथ तिन्ह कीन्ह खोटाई। मात भ्रात परिवार छोड़ाई ॥

यदपि मातु पितु सौं विमुख, भयो तृतिय मम व्याह ॥

"जनक जननि तज्यो जनमि" में 'जनमि' का अर्थ जन्मते ही नहीं बल्कि 'जिन्होंने जन्म दिया' यह अर्थ लेना चाहिए।

कृष्णोपासक वैष्णवों में "दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता" के आधार पर यह बात चल पड़ी है कि रास पंचाध्यायीवाले नंददास तुलसीदास जी के भाई थे। वैजनाथ दास ने गुरुभाई लिखा है। पर नंददास जी गोकुलस्थ गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के शिष्य थे। गोस्वामी तुलसीदास जी के गुरु रामभक्त थे। अतः ये दोनों बातें बे सिर पैर की हैं। जिनका उल्लेख 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्त्ता में है, वे दूसरे तुलसीदास सनाढ्य ब्राह्मण थे।

(३) विवाह और वैराग्य

यह प्रसिद्ध है कि इनका विवाह दीनबंधु पाठक की कन्या रत्नावली से हुआ था, जिससे तारक नामक एक पुत्र भी हुआ था, जो बचपन ही में मर गया। परंतु तुलसीचरित में लिखा है कि इनके तीन विवाह हुए थे। तीसरा विवाह कंचनपुर ग्राम के उपाध्याय लछुमन की कन्या बुद्धिमती से हुआ था। इसी के उपदेश से गोस्वामी जी विरक्त हुए थे। कहते हैं कि गोस्वामी जी इस स्त्री पर बहुत आसक्त थे। एक दिन स्त्री बिना कहे मायके चली गई। गोसाईं जी से पत्नी-वियोग न सहा गया। वहाँ जाकर वे स्त्री से मिले। स्त्री ने लजाकर ये दोहे कहे—

"लाज न लागत आपु को दौरे आएहु साथ।
धिक् धिक् ऐसे प्रेम को कहा कहहुँ मैं नाथ ॥
अस्थि-चरम-मय देह मम ता में जैसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम महँ होत न तौ भवभीति" ॥

यह बात गोसाईंजी को ऐसी लगी कि वे वहाँ से सीधे काशी चले आए और विरक्त हो गए। स्त्री ने बहुत कुछ विनती की और भोजन करने को कहा, परंतु उन्होंने एक न सुनी। अयोध्या और

काशी में तो गोसाईंजी प्रायः रहा ही करते थे, परंतु मथुरा, वृंदावन, कुरुक्षेत्र, प्रयाग, चित्रकूट, पुरुषोत्तमपुरी (जगन्नाथजी) आदि तीर्थस्थानों में भी वे प्रायः घूमा करते थे।

घर छोड़ने के पीछे एक बार स्त्री ने यह दोहा गोसाईंजी को लिख भेजा—

कटि की खीनी कनक सी रहति सखिन सँग सोइ।
मोहि फटे की डर नहीं अनत कटे डर होइ॥

इसके उत्तर में गोसाईंजी ने लिखा—

कटे एक रघुनाथ सँग बाँधि जटा सिर केस।
हम तो चाखा प्रेमरस पत्नी के उपदेस॥

बहुत दिनों के पीछे वृद्धावस्था में एक दिन तुलसीदासजी चित्रकूट से लौटते समय अनजान में अपने ससुर के घर आकर टिके। उनकी स्त्री भी बूढ़ी हो गई थी। वह विना पहचाने हुए ही उनके अतिथि-सत्कार में लगी और उसने चौका आदि लगा दिया। दो चार बातें होने पर उसने पहचाना कि ये तो मेरे पति हैं। उसने इस बात को गुप्त रखा और उनके चरण धोना चाहा; पर उन्होंने धोने न दिया। पूजा के लिये उसने कपूर आदि ला देने को कहा; परंतु गोसाईंजी ने कहा कि यह सब मेरे झोले में साथ है। स्त्री की इच्छा हुई कि मैं भी इनके साथ रहती तो रामभजन और पति की सेवा दोनों साथ साथ करके जन्म सुधारती। रात भर बहुत कुछ आगा-पीछा सोच विचार कर उसने सवेरे अपने को गोसाईंजी के सामने प्रकट किया और अपनी इच्छा कह सुनाई। गोसाईंजी ने उसको साथ लेना स्वीकार न किया। तब उसने कहा—

खरिया खरी कपूर लौं उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहि मेलि कै अचल करहु अनुराग॥*

* यह दोहा दोहावली में इस प्रकार है—

यह सुनते ही गोसाईं जी ने अपने झोले की वस्तुएँ ब्राह्मणों को बाँट दीं।

कुछ लोग यह भी अनुमान करते हैं कि तुलसीदासजी का विवाह ही नहीं हुआ था; क्योंकि उन्होंने विनयपत्रिका में लिखा है—"ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चाहत हौं।"

परंतु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उनका विवाह हुआ ही नहीं था। इस कथन का अभिप्राय तो यही है कि अब मुझे किसी के यहाँ विवाह आदि नहीं करना है। विवाह की कथा पहले पहल प्रियादासजी ने "भक्तमाल" की टीका में लिखी है। तभी से गोस्वामीजी के प्रत्येक जीवन-चरित्र में इसका उल्लेख होता आया है। प्रियादासजी गोस्वामीजी के थोड़े ही पीछे हुए हैं; अतः विवाहवाली बात माननी पड़ती है।

(४) गुरु-परंपरा

तुलसीदास जी रामायण में लिखते हैं—

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत॥
तदपि कही गुरु बारहिं बारा। समुझि परी कछु बुधि अनुसारा।
भाषा बंध करब मैं सोई। मोरे मन प्रबोध अस होई।

परंतु गुरु का नाम उन्होंने कहीं नहीं दिया है। रामायण के आदि में मंगलाचरण में यह सोरठा लिखा है—

"बंदउँ गुरु पद कंज कृपासिंधु नर रूप हरि।
महामोह तम पुंज जासु बचन रविकर निकर॥

इसी "नर रूप हरि" से लोगों ने निकाला है कि नरहरिदास इनके गुरु थे। नरहरिदास रामानंद के बारह शिष्यों में से थे, परंतु

खरिया खरी कपूर सब उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहि मेलि कै विमल -विवेक -बिराग॥२५५॥

एक सूची इनकी गुरुपरंपरा की डाक्टर ग्रिअर्सन को मिली है जो नीचे दी जाती है। उक्त डाक्टर साहब को एक सूची पटने से भी मिली है जो लगभग इसीसे मिलती है। अंतर केवल इतना ही है कि रामानुज स्वामी तक परंपरा नहीं दी है और कहीं कहीं नामों में कुछ अंतर है तथा कोई कोई नाम नहीं भी हैं, जैसे नं० १३, १४ शठकोपाचार्य और कूरेशाचार्य का नाम नहीं है, नं० १७ श्रीवाकाचार्य के स्थान पर श्रीमद्यतीन्द्राचार्य है, नं० २३ श्रीरामेश्वरानंद के स्थान पर श्रीराम मिश्र, नं० ३१ श्रीशय्यानंद का नाम नहीं है, नं० ३७ श्रीगरीबानंद के स्थान पर श्रीगरीबदास है।

१ श्रीमन्नारायण। २ श्रीलक्ष्मी। ३ श्रीधरमुनि।
४ श्रीसेनापति मुनि। ५ श्रीकारिसूनु मुनि ६ श्रीसैन्यनाथ मुनि।
७ श्रीनाथ मुनि। ८ श्रीपुण्डरीक। ९ श्रीराम मिश्र।
१० श्रीपारांकुश। ११ श्रीयामुनाचार्य। १२ श्रीरामानुज स्वामी
१३*श्रीशठकोपाचार्य। १४ श्रीकूरेशाचार्य। १५ श्रीलोकाचार्य।
१६ श्रीपराशराचार्य। १७ श्रीवाकाचार्य। १८ श्रीलोकार्थलोकाचार्य
१९ श्रीदेवाधिपाचार्य। २० श्रीशैलेशाचार्य। २१ श्रीपुरुषोत्तमाचार्य।
२२ श्रीगंगाधरानंद। २३ श्रीरामेश्वरानंद। २४ श्रीद्वारानंद।
२५ श्रीदेवानंद। २६ श्रीश्यामानंद। २७ श्रीश्रुतानंद।
२८ श्रीनित्यानंद। २९ श्रीपूर्णानंद। ३० श्रीहर्यानंद।
३१ श्रीशय्यानंद। ३२ श्रीहरिवर्यानंद। ३३ श्रीराघवानंद।
३४ श्रीरामानंद। ३५ श्रीसुरसुरानंद। ३६ श्रीमाधवानंद॥
३७ श्रीगरीबानंद। ३८ श्रीलक्ष्मीदासजी। ३९ श्रीगोपालदासजी।
४० श्रीनरहरिदासजी। ४१ श्रीतुलसीदास जी।

स्वामी रामानंद जी का समय संवत् १४५० के लगभग माना जाता है। इस हिसाब से नरहरिदासजी का सोलहवीं शताब्दी में

* रामानुज सम्प्रदाय के ग्रंथों से स्पष्ट है कि शठकोपाचार्य रामानुज से पहले हुए हैं; और यहाँ पीछे लिखा है, इसलिये यह सूची ठीक नहीं।

होना संभव है। पर यह सब अनुमान केवल "नरहरि" शब्द पर है जो रामायण के आदि में आया है। तुलसीचरित में इसके संबंध में लिखा है कि गोस्वामी जी के गुरु रामदास जी थे।

चौपाई।

तब गुरु रामदास पहचानी। राम यज्ञ विधि श्रुति मत ठानी॥
द्वादस दिन फलहार कराई। दिये मौनव्रत मेरी ताई॥
राम बीज जुत मन्त्र जपावा। कष्ट साध्य सब नियम करावा॥
बीज मंत्र तुलसी के याना। लिखि त्रिकाल ध्यावत हित ज्ञाना॥

इन्हीं श्री रामदास से गोस्वामी जी ने विद्या भी प्राप्त की।

चौपाई।

पुनि भारती यज्ञ मम हेता। कियो परम गुरुदेव सचेता॥
पढ़ि मुनि पाणिनीय को ग्रंथा। वसु अध्याय शब्द कर पंथा॥
दीक्षित ग्रंथ समग्र विचारी। पढ़े कृपा गुरु शेखर भारी॥
कौस्तुभादि मह भाष्य विचारा। * * * *
बरष एक मह. शब्दहिं जोई। पुनि षटशास्त्र वर्ष महँ गोई॥
सकल पुरान काव्य अवलोकी। तीन वर्ष महँ भयो विशोकी॥

अनुमान ही अनुमान की अपेक्षा इस स्पष्ट कथन को मानना उचित जान पड़ता है।

(५) पर्य्यटन

कहते हैं कि एक समम गोसाईं जी भृगु-आश्रम, हंसनगर और परसिया* होते, गायघाट† के राजा गम्भीरदेव का आतिथ्य सत्कार स्वीकार करते, ब्रह्मपुर‡ में ब्रह्मेश्वरनाथ महादेव के दर्शन कर के

---

* भृगु—आश्रम, हंसनगर और परसिया ज़िला बलिया में हैं।

† गायघाट में अब कोई राजधानी नहीं है। गायघाट का राजवंश जो हैहय वंशी क्षत्रिय है, अब हल्दी ज़िला बलिया में रहता है।

‡ ब्रह्मपुर ज़िला बलिया में है। यहाँ शिवरात्रि पर बड़ा मेला होता है।

कांत * नाम के गाँव में आए। वहाँ उन्हें भोजन का कोई पदार्थ न मिला और वहाँ के लोगों को राक्षसी भाव में लिप्त देखकर वे आगे बढ़े। थोड़ा आगे जाकर उन्हें उसी गाँव का रहनेवाला सावँरू † अहीर का लड़का मँगरू अहीर मिला। उसने वहाँ एक गोशाला बना रक्खी थी जहाँ वह साधु महात्माओं का आतिथ्य सत्कार करता था। उसने बड़े आदर के साथ गोसाईं जी को बुलाया और थोड़ा दूध दिया, जिसका खोआ बनाकर गोसाईं जी ने खाया। गोसाईं जी ने मँगरू से कहा कि कुछ वर माँगो। मँगरू ने प्रार्थना की कि "महाराज, एक तो मेरा दृढ़ विश्वास प्रभु के चरणारविन्द में हो और दूसरे मेरा वंश बढ़े"। गोसाईं जी ने कहा कि "जो तुम और तुम्हारे वंशवाले चोरी न करेंगे और किसी को दुःख न देंगे तो ऐसा ही होगा"। कहते हैं कि यह आशीर्वाद फलीभूत हुआ। यह बात बलिया और शाहाबाद ज़िले में अब तक प्रसिद्ध है और उसके वंश-वाले अब तक वर्त्तमान हैं, जिनका आतिथ्य-सत्कार प्रसिद्ध है और जिनके वंश में अब तक कोई चोरी नहीं करता, यद्यपि उस ज़िले के अहीर चोरी में प्रसिद्ध हैं।

वहाँ से गोसाईं जी बेलापतौत में आए। वहाँ गोविन्द मिश्र नामक एक शाकद्वीपी ब्राह्मण और रघुनाथसिंह नामक क्षत्रिय से भेंट हुई। उन लोगों ने बड़े आदर से गोसाईंजी को अपने यहाँ ठहराया। गोसाईं जी ने उस स्थान का नाम बेलापतौत से बदलकर रघुनाथपुर रक्खा, जिसमें एक तो यह रघुनाथसिंह का स्मारक हो, दूसरे इसी बहाने से लाखों मनुष्य भगवान् का नाम लें। यह स्थान रघुनाथपुर के नाम से अब तक प्रसिद्ध है और ब्रह्मपुर से एक कोस पर है। यहाँ पर गोसाईं जी का चौरा अब तक है। इसी के पास एक गाँव

---

* यह भी ज़िला बलिया में है। लोग प्रायः इसको कांत ब्रह्मपुर कहते हैं।

† सावँरू नाम के दो अहीरों का वर्णन लोरिक के गीतों में है।

कैथी है। कहते हैं कि वहाँ के प्रधान जोरावरसिंह ने भी गोसाइ जी का आतिथ्य किया था और वे इनके शिष्य हुए थे।

(६) वासस्थान

यद्यपि पहले गोसाईंजी अयोध्या में आकर रहे थे, और चित्र-कूट में भी प्रायः रहना उनकी कविता से पाया जाता है, परंतु उनका अधिक निवास काशी में ही रहा और अंत में उन्हें काशी-वास हुआ। काशी में गोसाईंजी के चार स्थान प्रसिद्ध हैं—

१—अस्सी पर-तुलसीदासजी का घाट प्रसिद्ध है। इस स्थान पर गोसाईंजी के स्थापित हनुमानजी हैं और उनके मंदिर के बाहर बीसा यन्त्र लिखा है जा पढ़ा नहीं जाता। यहाँ गोसाईंजी की गुफा है। यहाँ पर विशेष करके गोसाईंजी रहते थे और अंत समय में भी यहीं थे।

२—गोपालमंदिर में। यहाँ श्रीमुकुंदरायजी के बाग के पश्चिम-दक्षिण के कोने में एक कोठरी है, जो तुलसीदासजी की बैठक है। यह सदा बंद रहती है। झरोखे में से लोग दर्शन करते हैं। केवल श्रावण सु० ७ को खुलती है और लोग जाकर पूजा आदि करते हैं। यहाँ बैठकर यदि सब "विनयपत्रिका" नहीं तो उसका कुछ अंश उन्होंने अवश्य लिखा है, क्योंकि यह स्थान बिंदुमाधव जी के निकट है और पंचगंगा, बिंदुमाधव का वर्णन गोसाईंजी ने विनयपत्रिका में पूरा पूरा किया है। बिंदुमाधवजी के अंग के चिह्नों का जो वर्णन गोसाईंजी ने किया है, वह पुराने बिंदुमाधवजी से, जो अब एक गृहस्थ के यहाँ हैं, अविकल मिलता है।

३—प्रह्लादघाट पर यह स्थान उन्हीं गंगाराम ज्योतिषी का है, जो गोस्वामीजी के मित्र प्रसिद्ध हैं। कहते हैं, चोरोंवाली घटना यहीं हुई थी।

४—संकट-मोचन हनुमान। यह हनुमानजी नगवा के पास

अस्सी के नाले पर गोसाईंजी के स्थापित हैं। कहते हैं कि प्रह्लाद-घाट के ज्यो० गंगारामजी ने राजा के यहाँ से जो द्रव्य पाया था, उसमें से १२ हज़ार गोसाईंजी की भेंट बहुत आग्रह करके किया। गोसाईंजी ने उससे बारह मूर्त्तियाँ श्रीहनुमानजी की स्थापित की थीं, जिन में से एक यह भी है।

१—हनुमान-फाटक, २—गोपालमंदिर, ३—अस्सी। पहला निवास-स्थान हनुमान-फाटक है। मुसलमानों के उपद्रव से वहाँ से उठकर वे गोपालमंदिर आए। वहाँ से भी वल्लभकुलवाले गोसाइयों से विरोध हो जाने के कारण उठकर अस्सी आए और मरण पर्यंत वहीं रहे।

अस्सी पर आपने अपनी रामायण के अनुसार रामलीला आरंभ की। सब से पुरानी रामलीला अस्सी ही की है। आज तक अस्सी के दक्षिण ओर कुछ दूर पर जो तुलसीदासजी की रामलीला की लंका थी, उस स्थान का नाम लंका है।

(७) रामलीला और कृष्णलीला

यद्यपि जनश्रुति ऐसी है कि मेघा भगत की रामलीला, जो अब काशी में चित्रकूट की लीला के नाम से प्रसिद्ध है, गोसाईं जी के पहले से होती थी, परंतु वर्तमान शैली की रामलीला, गोसाईं जी की रामायण गाकर, गोसाईं जी के ही समय से आरम्भ हुई है। यह लीला अब तक अस्सी पर होती है और गोसाईं जी के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें और लीलाओं से एक बात की विलक्षणता यह है कि और लीलाओं में जो खर-दूषण की सेना निकलती है, उसमें राक्षस लोग विमान पर निकाले जाते हैं; पर यहाँ पर राक्षस लोग, जैसा कि रामायण में लिखा है, भैंसे, घोड़े आदि पर निकलते हैं। इसकी लंका अब तक लंका के नाम से प्रसिद्ध है।

रामलीला के अतिरिक्त गोसाईं जी कृष्ण-लीला भी करते थे।

अब तक उनके घाट पर कार्तिक कृष्ण ५ को "कालियदमन" लीला बहुत सुंदर रीति से होती है ।

(८) मित्र और स्नेही

टोडर नाम के एक बड़े ज़मींदार काशी में थे, जिन्हें गोसाइयों ने मार डाला था। इनके पास पाँच गाँव थे जो काशी के एक सिरे तक फैले हैं। इनके नाम भदैनी, नदेसर, शिवपुर, छीतूपुर और लहरतारा हैं। भदैनी अब काशिराज के पास है और इसी में अस्सीघाट है। नदेसर में अब तक सरकारी दीवानी कचहरी थी। शिवपुर पञ्चकोशी में है। यहाँ पाँचों पाण्डवों का मंदिर और द्रौपदीकुण्ड है। इस द्रौपदीकुण्ड का जीर्णोद्धार राजा टोडरमल्ल ने कराया था। छीतूपुर भदैनी से और पश्चिम है। लहरतारा काशी के कंटूनमेंट स्टेशन के पास है। इसी लहरतारा की झील में कबीर जी को बहता हुआ "नीमा" ने पाया था। यहाँ कबीर जी की एक मढ़ी बनी है। टोडर के मरने पर उनके पौत्र कँधई और बेटे आनन्दराम में झगड़ा हुआ था। उसमें गोसाईं जो पंच हुए थे; और जो पंचायती फैसला उन्होंने लिखा था, वह ११ पीढ़ी तक टोडर के वंश में रहा। ११वीं पीढ़ी में पृथ्वीपालसिंह ने उसको महाराज काशिराज को दे दिया जो अब काशिराज के यहाँ है। टोडर के वंशज अब तक अस्सी पर हैं। पंचनामे की नक़ल आगे दी जाती है।

इन टोडर के मरने पर कहते हैं कि गोसाईं जी ने ये दोहे कहे थे—

चार गाँव को ठाकुरो* मन को महा महीप।
तुलसी या कलिकाल में अथए टोडर दीप ॥
तुलसी राम-सनेह को सिर पर भारी भार।
टोडर काँधा ना दियो सब कहि रहे उतार ॥
तुलसी उर थाला विमल टोडर गुनगन बाग।
ये दोउ नयनन सींचिहौं समुझि समुझि अनुराग ॥

---

* महतो चारों गाँव को—पाठान्तर ।

रामधाम टोडर गए तुलसी भए असोच ।
जियबो मीत पुनीत बिनु यही जानि संकोच ॥

डाक्तर ग्रिअर्सन अनुमान करते हैं कि यह टोडर अकबर के प्रसिद्ध मन्त्री राजा टोडरमल थे, और उनके जन्म स्थान लाहरपुर (अवध) को वे लहरतारा अनुमान करते हैं। परन्तु ऐसा नहीं है। राजा टोडरमल टंडन खत्री थे, जिसके प्रमाण में शिवपुर के द्रौपदीकुण्ड का शिलालेख वर्तमान है *। इस टोडर के वंशज क्षत्रिय हैं। दूसरे यह कभी संभव नहीं है कि राजा टोडरमल ऐसे भारी मन्त्री का नाम एक नगर का काजी ऐसी साधारण रीति पर लिखे कि "आनन्दराम बिन टोडर बिन देवराय व कँधई बिन रामभद्र बिन टोडर मजकूर दर हुजूर आमदः" इत्यादि। तीसरे राजा टोडरमल का कोई चिह्न काशी में वर्त्तमान नहीं है। जान पड़ता है कि बंगाल पर चढ़ाई के समय राजा टोडरमल ने द्रौपदी कुण्ड का जीर्णोद्धार कराया हो। निदान यह निश्चय है कि यह टोडर राजा टोडरमल नहीं हैं।

---

* शिवपुर के शिलालेख को प्रतिलिपि।

प्रत्यर्थिक्षितिपालकालनमु.........ने दूतिका।
मुद्राङ्कस्फटपतापतपनप्रोद्भासिताशामुखे
क्षोणीशेऽकबरे प्रशासति महीं तस्मिन् नृपालावलि
स्फूर्जन्मौलिमरीचिवीचिरुचिरोदञ्चत् पादाम्भोरुहे ॥ १ ॥
तद्राज्यैकधुरन्धरस्य वसुधा साम्राज्यदीक्षागुरोः
श्रीमट्टण्डनवंशमण्डणमणेः श्रीटोडरक्ष्मापतेः।
धर्मार्थैकविधौ समाहितपतेरादेशनोऽचीकर
द्द्रौपदीपाण्डवमण्डपे...वनो गोविन्ददासः सुधीः ॥ २ ॥
ऋतुनिगमरसात्मासम्मिते १६४६ वत्सरेशो
सुकृतिकृतिहितैषी टोडरक्षौणिपतेः।
विहितविविधपूतोऽचीकरद्वारुवापीं
विमलसलिलसारां बद्धसोपानपङ्क्तिम् ॥ ३ ॥

राजा टोडरमल के दो लड़कों के नाम धरु टन्नन और गोवर्धन-धारी टन्नन थे और इस टोडर के लड़कों के नाम आनन्दराम और रामभद्र थे। इनमें से रामभद्र संवत् १६५६ के पहले मर चुका था। परन्तु राजा टोडरमल के दोनों लड़के उनके पीछे तक जीते रहे। इससे भी यही निकलता है कि ये दोनों टोडर दो भिन्न पुरुष थे।

पंचनामे की प्रतिलिपि।

श्री जानकीवल्लभो विजयते।

द्विश्शरं नाभिसंधत्ते द्विःस्थापयति नाश्रितान्।
द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्नैव भाषते ॥१॥
तुलसी जान्यो दशरथहिं धरमु न सत्य समान।
रामु तजो जेहि लागि बिनु राम परिहरे प्रान ॥२॥
धर्मो जयति नाधर्मस्सत्यं जयति नानृतम्।
क्षमा जयति न क्रोधो विष्णुर्जयति नासुरः ॥३॥

फारसी न जाननेवाले लोगों के लिये हिंदी में प्रतिलिपि दी जाती है—

अल्लाहो अकबर

चूँ अनंदराम बिन टोडर बिनं देओराय व कन्हई बिन रामभद्र बिन तोडर मज़कूर

दर हुजूर आमदः क़रार दादन कि दर मवाज़िए मतरूकः कि तफ़सीले आँ दर हिंदवी मज़कूर अस्त

बिल् मुनासफः बतराज़ीए जानिबैन क़रार दादेम व यक सद व पिंजाह बिघा ज़मीन ज़्यादः क़िस्मत मुनासिफः खुद

दर मौज़ै भदैनी अनंदराम मज़कूर व कन्हई बिन रामभद्र मज़-कूर तजवीज़ नमूदः

बरीं मानी राज़ीगश्तः अतराफ़ सहीह शरई नमूदन्द बिनाबर आँ मुहर करदः शुद

श्रीपरमेश्वर

संवत् १६६६ समये कुआर सुदि तेरसी बार सुभ दीने लिषीतं पत्र अनंदराम तथा कन्हई के अंश बिभाग पुर्वमु आगें जे आग्य दुनहु जने मागा जे आग्य भै शे प्रमान माना दुनहु जने बिदित तफसीलु अंश टोडरमलु के माह जे विभाग पडुहोत रा...

अंश अनंदराम

मौजे भदेनी मह अंश पाच तेहि मह अंश दुइ, अनन्दराम, तथा लहरतारा सगरेउ तथा छितुपुरा अंश टोडरमलुक तथा नयपुरा अंश, टोडरमलुक हील हुज्जती नास्ती लिखातं अनंदराम जे ऊपर लिखा से सही।

अंश कन्हई

मौजे भदैनी मह अंश पाँच तेहि मह तीनि अंश कन्हई तथा मौजे शिवपुरा तथा नदेसरी अंश टोडर-मलुक हील हुजती नास्ती, लीषीतं कन्हई जे ऊपर लिषा से सही।

साछी रायराम रामदत्त सुत	साछी रामसिंह उद्धव सुत
साछी रामसेनी उद्धव सुत	साछी जादोराय गहरराय सुत
साछी उदेयकरन जगतराय सुत	साछी जगदीस राय महोदधी सुत
साछी जमुनी भान परमानंद सुत	साखी चक्रपानी शीवा सुत
साछी जानकीराम श्रीकांत सुत	साखी मथुरा पीठा सुत
साखी कवलराम वासुदेव सुत	साखी काशीदास वासुदेव सुत
साखी चंद्रभान केसौदास सुत	दसखत मथुरा।
साछी पांडे हरीवलभ पुरुषोत्तमसुत	साखी खरगभान गोसाइंदास सुत
साखी भावश्रो केसौदास सुत	साखी रामदेव बीसभर सुत
साखी जदुराम नरहरि सुत	साखी श्रीकांत पांड़े राजचक्र सुत
साखी अयोध्या लछी सुत	साछी विठलदास हरिहर सुत
साखी सबल भीष्म सुत	साछी हीरा दसरथ सुत
साछी रामचंद्र वासुदीव सुत	साछी लोहग कीस्ना सुत
साखी पितंबर दास वधीपूरन सुत	साखी नजराम शीतल सुत

साखी रामराय गरीवराय मकटूरी करन सुत

साखी कृष्णदत्त भगवन् सुत
साखी विंनरावन जय सुत
साखी धनीराम मधुराय सुत

(शहीद व माफिह जलाल मकबूली वख़तही)

(शहीद व माफिहताहिर इवन खाजे दौलते कानूनगोय)

मुहर सादुल्लाह विन ... ...

किस्मत अनंदराम

किस्मत कन्हई

क़रिया क़रिया

क़रिया क़रिया

भदैनी दो हिस्सःलहरतारादरोविस्त क़रिया

भदेनी सेह हिस्सः शिवपुर दरोविस्त

नैपुरा हिस्से टोडर तमाम करिया

क़रिया

नदेसर हिस्सै टोडर तमाम

चितूपुरा खुर्द हिस्सै टोडर तमाम

अन्हरुल्ला (अस्पष्ट)

अब्दुर्रहीम खानखाना

कहते हैं कि अकवर के प्रसिद्ध वज़ीर नवाव खानखाना और तुलसीदासजी में बड़ा स्नेह था। एक ग़रीव ब्राह्मण द्रव्य के अभाव से कन्या का विवाह न कर सकता था। वह गोस्वामी जी के पास आया। उन्होंने एक चिट पर दोहे की यह पंक्ति लिखकर दी और ख़ानख़ाना के पास ले जाने को कहा—

सुरतिय, नरतिय, नागतिय सब चाहत अस होय।

ख़ानख़ाना ने उसे वहुत कुछ धन देकर उसी के हाथ यह उत्तर भेजा—

गोद लिए हुलसी फिरै तुलसी सो सुत होय॥

महाराज मानसिंह

आमेर के महाराज मानसिंह और उनके भाई जगतसिंह गोस्वामीजी के पास प्रायः आते थे। एक दिन किसी ने गोस्वामीजी

से पूछा "महाराज! पहले तो आप के पास कोई नहीं आता था, अब इतने बड़े बड़े लोग आया करते हैं।" उन्होंने कहा—

लहै न फूटी कौड़ि हूँ, को चाहै केहि काज।
सो तुलसी महँगो कियो राम गरीबनिवाज॥
घर घर माँगे टूक पुनि भूपति पूजे पाय।
ते तुलसी तब राम बिनु ये अब राम सहाय॥

(६) चमत्कार

रामचन्द्र जी के दर्शन

गोसाईं जी शौच के लिये नित्य गङ्गा पार जाया करते थे और लौटते समय लोटे का बचा हुआ जल रास्ते में पड़ते हुए आम के एक पेड़ की जड़ में डाल देते थे। उस पेड़ पर एक प्रेत रहता था। एक दिन वह उस जल से तृप्त होकर गोसाईं जी के सामने आया और उसने कहा कि कुछ माँगो। गोसाईं जी ने कहा कि हमें श्रीरामचन्द्रजी के दर्शन के सिवा और कुछ इच्छा नहीं है। प्रेत ने कहा इतनी शक्ति तो मुझे नहीं है, पर मैं तुम्हें रास्ता बतला देता हूँ। अमुक मंदिर में रामायण की कथा होती है। वहाँ एक बहुत ही मैला कुचैला कोढ़ी नित्य कथा सुनने आता है; सब से पहले आता है और सब से पीछे जाता है। वे साक्षात् हनुमानजी हैं, उन्हीं का चरण पकड़कर विनती करो। उनके जी में आ जायगा तो दर्शन करा देंगे। गोसाईं जी ने ऐसा ही किया और हनुमान जी को पहचानकर अकेले में उनका पैर पकड़ लिया। उन्होंने लाख जी बचाना चाहा, पर गोसाईं जी ने न छोड़ा। अन्त में हनुमान जी ने आज्ञा दी कि "जाओ, चित्रकूट में दर्शन होगा"। गोसाईं जी चित्रकूट आकर रहे। एक दिन वे वन में घूम रहे थे कि एक हरिण के पीछे दो सुन्दर राजकुमार एक श्याम और एक गौर धनुष बाण लिए घोड़ा दौड़ाए जाते दिखलाई दिए। गोसाईं जी रूप देख

मोहित तो हो गए, पर यह न जान सके कि यही श्रीराम-लक्ष्मण हैं। इतने में हनुमान जी ने आकर पूछा "कुछ देखा?" गोसाईं जी ने कहा "हाँ, दो सुंदर राजकुमार घोड़े पर गए हैं"। हनुमान जी ने कहा "वही राम-लक्ष्मण थे"। गोसाईं जी ने उसी मन-मोहनी मूर्ति का ध्यान चित्त में रख लिया।

यह कथा प्रियादास जी ने लिखी है और यही "भक्त कल्पद्रुम" में भी है। परंतु डाक्टर ग्रिअर्सन इसको दूसरे ही प्रकार से लिखते हैं। वे लिखते हैं कि गोसाईं जी चित्रकूट में एक दिन बस्ती के बाहर घूम रहे थे कि उन्होंने वहाँ रामलीला होती हुई देखी। प्रसङ्ग यह था कि लङ्का जीतकर, राज्य विभीषण को देकर, सीता, लक्ष्मण और हनुमान जी के साथ भगवान् अयोध्या को लौट रहे हैं। लीला समाप्त होने पर वे लौटे। रास्ते में ब्राह्मण के रूप में हनुमान जी मिले। गोसाईं जी ने कहा "यहाँ बड़ी अच्छी लीला होती है"। ब्राह्मण ने कहा "कुछ पागल हो गए हो, आजकल रामलीला कहाँ? रामलीला तो आश्विन-कार्तिक में होती है"। गोसाईं जी ने चिढ़ कर कहा—"हमने अभी देखी है, चलो तुम्हें भी दिखा दें"। यह कह कर वे ब्राह्मण को लेकर रामलीला के स्थान पर आए। वहाँ कुछ भी न था। लोगों से पूछा तो लोगों ने कहा "आज कल रामलीला कहाँ?" तब गोसाईं जी को हनुमान जी की बात स्मरण आई और वे बहुत उदास होकर लौट आए; कुछ खाया पीया नहीं; रोते रोते सो गए। स्वप्न में हनुमान जी ने कहा-"तुलसी, पछताओ मत, इस कलियुग में प्रत्यक्ष दर्शन किसी को नहीं होते; तुम बड़े भाग्यवान् हो जो तुम्हें दर्शन हुए। सोच छोड़ो, उठो और उनकी सेवा करो"। तुलसीदास जी का चित्त शान्त हुआ। वे काशी में आकर भगवत्-सेवा में समय बिताने लगे। कहते हैं कि इसी समय रास्ते में इन से अपनी स्त्री से भेंट हुई थी।

तुलसीदासजी पहले ही से हनुमान जी के उपासक थे। बहुत

से लोग कहते हैं कि बालकाण्ड में जो लिखा है कि 'करउँ कथा हरि पद धरि सीसा' यहाँ हरि का अर्थ वानर—हनुमान जी है ।

कहावत है कि गोसाईंजी रामायण बनाते बनाते जब बालकांड के २८४ वें सोरठे तक पहुँचे, तब "बूड़ सो सकल समाज" इतना लिख कर उनकी कलम रुक गई कि समाज में विश्वामित्र, राम, लक्ष्मण भी हैं। ये लोग भी डूब गए; यह अनर्थ हो गया। इस पर हनुमान जी की आकाशवाणी हुई कि रुको मत, आगे लिखो कि, 'चढ़े जो प्रथमहिं मोहवस'। दूसरी यह कथा भी बहुत प्रसिद्ध है कि युद्ध में हनुमान को अंतरंग भक्त जान लक्ष्मण-शक्ति के प्रसङ्ग में राम ने हनुमान से कहा कि मैं वाल्मीकि के लिखे अनुसार चलता हूँ। इस को सुन हनुमान ने एक रामायण अपने नखों से शिलाओं पर लिख कर सही के लिये श्रीराम के पास उपस्थित की। श्रीराम ने देखकर कहा—ग्रन्थ अच्छा बना है, परंतु मैं वाल्मीकि-रामायण पर सही कर चुका हूँ। सो तुम वाल्मीकि से सही कराओ। हनुमान जी ने उसे वाल्मीकि को दिखाया। वाल्मीकि ने उस उत्तम ग्रन्थ को देखकर विचारा कि इसका प्रचार होने से मेरी रामायण नष्ट हो जायगी; इसलिये वे हनुमान जी की स्तुति करने लगे। हनुमान जी प्रसन्न होकर बोले कि वर माँगिए। वाल्मीकि ने कहा कि इस अपने ग्रंथ को समुद्र में डुबा दीजिए। हनुमान जी ने कहा कि मैं इसको तो समुद्र में डुबा देता हूँ; परंतु कलि में एक तुलसी नाम के ब्राह्मण की जिह्वा पर बैठकर भाषा रामायण कहूँगा, जिसके प्रचार से तुम्हारी रामायण नष्ट-प्राय हो जायगी।

चोरों को शिक्षा

एक दिन चोर तुलसीदास जी के यहाँ चोरी करने गए तो देखा कि एक श्याम सुंदर बालक धनुष-बाण लिये पहरा दे रहा है। चोर लौट गए। दूसरे दिन वे फिर आए और उन्होंने फिर उसी पहरेदार

को देखा। तब उन्हों ने सवेरे गोसाईं जी से पूछा कि "आपके यहाँ श्याम सुंदर बालक कौन पहरा देता है?" गोसाईं जी समझ गए कि मेरे कारण प्रभु को कष्ट उठाना पड़ता है। बस जो कुछ उनके पास था, सब उन्होंने लुटा दिया। चोर भी इस घटना से गोसाईं जी के चेले हो गए।

डाक्तर ग्रिअर्सन ने एक कहानी और भी चोरों की लिखी है। वे लिखते हैं कि एक दिन काशी में कहीं से लौटते हुए गोसाईं जी को रात हो गई। रात अँधेरी थी, चोरों ने घेरा। उन्होंने हनुमान जी का स्मरण कर ज्यों ही यह दोहा पढ़ा—

> बासर ढासनिके ढका, रजनी चहुँदिसि चोर।
> दलत दयानिधि देखिए कपि केसरी किसोर॥

कि हनुमान् जी प्रकट हो गए और चोर भाग गए।

मुर्दा जिलाना

कोई ब्राह्मण मर गया था और उसकी स्त्री सती होने जा रही थी। रास्ते में गोस्वामीजी को देख उसने प्रणाम किया। उनके मुँह से निकला 'सौभाग्यवती हो'। लोगों ने कहा "महाराज! इसका पति तो मर गया है। यह सती होने जा रही है"। गोस्वामीजी ने कहा—जब तक मैं न आऊँ तब तक इसे न जलाना। यह कहकर वे गंगा स्नान करने गए और वहाँ तीन दिन तक भगवान की स्तुति करते रहे। मुर्दा जी उठा।

यह कथा प्रियादास जी ने भी लिखी है।

बादशाह की क़ैद

मुर्दा जिलाने की बात बादशाह के कानों तक पहुँची। उसने इन्हें बुला भेजा और कहा कि "कुछ करामात दिखलाइए"। इन्होंने कहा कि "मैं सिवाय रामनाम के और कोई करामात नहीं जानता"। बादशाह ने इन्हें क़ैद कर लिया और कहा कि "जब तक करामात

न दिखाओगे छूटने न पाओगे"। तुलसीदासजी ने हनुमानजी की स्तुति की। हनुमानजी ने बंदरों की सेना से कोट को विध्वंस कराना आरंभ किया, और ऐसी दुर्गति की कि बादशाह आकर पैरों पर गिरा और बोला कि 'अब मेरी रक्षा कीजिए'। तब फिर गोसाईं जी ने हनुमानजी से प्रार्थना की और बंदरों का उपद्रव कम हुआ। गोसाईंजी ने कहा कि अब इसमें हनुमानजी का वास हो गया, इसलिये इसको छोड़ दो, नया कोट बनवाओ। बादशाह ने ऐसा ही किया।

प्रियादासजी ने भी यह कथा लिखी है और कहा है कि अब तक कोई इसमें नहीं रहता। जान पड़ता है कि दिल्ली के नए किले के बनने पर पुराने क़िले में बंदरों का डेरा डालना और कोट को तहस नहस कर देना देखकर ही यह बात प्रसिद्ध हो गई है। यह भी संभव है कि जहाँगीर ने इन्हें बुलाया हो और कुछ दिनों कैद रक्खा हो। तुलसीदास की मृत्यु संवत् १६८० में हुई और बादशाह शाहजहाँ संवत् १६८५ में गद्दी पर बैठा। उसीने नई दिल्ली (शाहजहाँबाद) बसाई और क़िला बनवाया। बैजनाथदास ने लिखा है कि जहाँगीर ने अपने बेटे शाहजहाँ के नाम से नगर बसाया; परंतु ऐसा नहीं है। नई दिल्ली को शाहजहाँ ने ही बनवाया था।

जो पद स्तुति के तुलसीदासजी ने इस समय बनाए थे वे ये हैं—

कानन भूधर बारि बयारि दवा विष ज्वाल महा अरि घेरे।
संकट कोटि परो तुलसी तहँ मातु पिता सुत बंधु न नेरे॥
राखहिं राम कृपा करि कै हनुमान से पायक हैं जिन केरे।
नाक रसातल भूतल में रघुनायक एक सहायक मेरे॥

तोहि न ऐसी बूझिए हनुमान हठीले।
साहेब काहु न राम से तुम से न वसीले॥
तेरे देखत सिंह के सुत मेढुक लीले।

जानत हूँ कलि तेरेऊ मनो गुनगन कीले ॥
हाँक सुनत दसकंध के भए बंधन ढीले ।
सो बल गयो कि भए अब कछु गर्वगहीले ॥
सेवक को परदा फटै तूँ समरथसीले ।
अधिक आपु तें आपु तें सनमान सहीले ॥
साँसति तुलसीदास की देखि सुजस तुँही ले ।
तिहूँ काल तिनको भलो जे राम-रँगीले ॥
समरथ सुअन समीर के रघुवीर पियारे ।
मो पर कीबो तोहि जो करि लेहि भियारे ॥
तेरी महिमा ते चले चिंचिनी चियारे ।
अँधियारे मेरी बार को त्रिभुवन उँजियारे ॥
केहि करनी जन जानि कै सनमान किया रे ।
केहि अघ औगुन आपनो करि डारि दिया रे ॥
खाई खोंची माँगि मैं तेरो नाम लिया रे ।
जो तो सो होतो फिरो मेरे हेत हिया रे ॥
तौ क्यों बदन दिखावतो कहि वचन इया रे ।
तेरे बल बलि आज लौं जग जानि जिया रे ॥
तो सों ज्ञाननिधान को सर्बज्ञ बिया रे ।
हौं समुझत साईं द्रोह की गति छार छिया रे ॥
तेरे स्वामी राम सो स्वामिनी सिया रे ।
तहँ तुलसी कहै कौन को ताको तकिया रे ॥

उपद्रव-शांति के लिये जो पद बनाए थे, वे ये हैं—

अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी ।
इनको बिलगु न मानिये बोलहिं न बिचारी ॥
लोक-रीति देखी सुनी व्याकुल नर-नारी ।
अति बरषे अनबरषेहु देहिं दैवहिं गारी ॥
नाकहि आये नाथ सों भई साँसति भारी ।

करि आये कीबी छमा निज ओर निहारी ॥
समय 'साँकरें सुमिरिये समरथ हितकारी ॥
सो सब विधि दाया करै अपराध बिसारी ॥
बिगरी सेवक की सदा साहेबहि सुधारी ।
तुलसी पै तेरी कृपा निरुपाधि निहारी ॥
कटु कहिये गाढ़े पड़े सुनि समुझि सुसाईं ।
करहिं अनभलेहु को भलो आपनी भलाई ॥
समरथ सभी जो पाइए सुनि पीर पराई ।
ताहि तक्यो सब ज्यों नदी वारिधि न बोलाई ॥
अपने अपने को भलो चहै लोग लोगाई ।
भावै जो जेहि भजै सो सुभ असुभ सगाई ॥
बाँह बोल दै थापिये जेहि निज बरियाई ।
बिनु सेवा सो पालिये सेवक की नाईं ॥
चूक चपलता मेरई तूँ बड़ो बड़ाई ।
हौं तौ आदरे ढीठ हौं अति नीच निचाई ॥
बंदि छोर बिरदावली निगमागम गाई ।
नीको तुलसीदास को तेरिये निकाई ॥

मंगल मूरति मारुत-नंदन । सकल अमंगल-मूल-निकंदन ॥
पवन-तनय संतन-हितकारी । हृदय बिराजत अवधबिहारी ॥
मातु पिता गुरु गनपति सारद । सिवा समेत संभु सुक नारद ॥
चरन बँदि बिनवौं सब साहू । देहु रामपद भक्ति निवाहू ॥
बँदउँ राम लखन वैदेही । जे तुलसी के परम सनेही ॥

कृष्णमूर्ति का राममूर्ति हो जाना

दिल्ली से गोसाईं जी वृंदावन गए। वहाँ वे एक मंदिर में दर्शन को गए। श्रीकृष्णमूर्ति का दर्शन करके यह दोहा उन्होंने कहा—

"का बरनउँ छबि आज की भले बिराजेउ नाथ ।
तुलसी मस्तक तब नवै (जब) धनुष बान लेउ हाथ ॥"

कहते हैं कि जब भगवान् ने वहाँ श्री रामचंद्रजी के स्वरूप में दर्शन दिए, तब तुलसीदासजी ने दंडवत किया। इस कथा को प्रियादासजी ने भी लिखा है; पर इसमें एक संदेह होता है। जिन गोसाईं जी ने कृष्णगीतावली बनाई, सैकड़ों स्थानों पर अपने विनय के पदों में कृष्णगुणानुवाद दिया और जो स्वयं कृष्णलीला (नागदमन लीला) कराते थे, वे ऐसा भेद-भाव क्यों प्रकट करेंगे? संभव है, गोसाइयों ने इनकी अनन्यता पर आक्षेप किया हो।

हत्या छुड़ाना

प्रियादासजी ने एक ब्राह्मण की हत्या छुड़ाने की कथा लिखी है जिसका वर्णन "विनयपत्रिका" के प्रसंग में देखो।

(१०) पंडितों से शास्त्रार्थ

वैजनाथदास ने लिखा है कि शंकरमतानुयायी श्रीमधुसूदन सरस्वती ने वाद में प्रसन्न होकर यह श्लोक इनकी प्रशंसा में बनाया—

"आनन्दकानने कश्चिज्जंगमस्तुलसीतरुः।
कविलामंजरी यस्य राम-भ्रमर-भूषिता॥"

पंडित महादेवप्रसाद ने भी भक्तिविलास में लिखा है कि "एक पंडित दिग्विजय की इच्छा से काशी में आया था; परंतु गोसाईं जी का प्रताप देखकर उसने हार मान ली और यह श्लोक बनाया—

"आनन्दकानने ह्यस्मिन् जंगमस्तुलसीतरुः।
कवितामंजरी यस्य राम-भ्रमर-भूषिता॥"

गोपालदासजी ने भी यही पाठ "रामायण-माहात्म्य" में दिया है और लिखा है कि पहले रामायण का आदर काशी के पंडितों ने नहीं किया। उन्होंने कहा कि यदि इसको आनन्दकानन ब्रह्मचारी मानें तो हम लोग भी मानेंगे। ब्रह्मचारी ने रामायण की बड़ी प्रशंसा की और यह ऊपर का श्लोक लिख दिया। काशिराज महाराज

ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह ने इस श्लोक का अनुवाद इस प्रकार किया है—

"तुलसी जंगम तरु लसै आनँदकानन खेत।
कविता जाकी मंजरी राम-भ्रमर-रस लेत॥"

(११) नाभाजी से भेंट

"भक्तमाल" के कर्ता नाभाजी इनसे मिलने काशी आए। उस समय गोसाईं जी ध्यान में थे, नाभाजी से कुछ बातचीत न कर सके। नाभाजी उसी दिन वृन्दावन चले गए। गोसाईं जी ने जब यह सुना, तब वे बहुत पछताए और नाभाजी से मिलने वृन्दावन गए। नाभाजी के यहाँ वैष्णवों का भण्डारा था, बिना बुलाए गोसाईं जी उसमें गए। नाभाजी ने जान बूझकर इनका कुछ आदर न किया। परोसने के समय खीर के लिये कोई बर्तन न था। गोसाईं जी ने चट एक साधु का जूता लेकर कहा कि इससे बढ़कर उत्तम पात्र क्या होगा? इस पर नाभाजी ने उन्हें हृदय से लगा लिया और कहा कि आज मुझे भक्तमाल का सुमेरु मिल गया।

ऐसा न हो कि ये मुझे अभिमानी समझें और मेरी कथा भक्तमाल में बिगाड़कर लिखें, इस विचार से तुलसीदास भण्डारे में बैरागियों की पंक्ति के अन्त में बैठे थे और कढ़ी या खीर लेने के लिये एक बैरागी की जूती उठाई थी। बहुत से लोग आज तक कहते हैं कि नाभा जी का बनाया जो पद पहले उद्धृत किया जा चुका है, उसका पहला चरण पहले यह था—"कलि कुटिल जीव तुलसी भये बालमीकि अवतार धरि"। इस पाठ से वाल्मीकिजी के साथ तुलसीदासजी का पूर्ण साम्य हो जाता था, क्योंकि वाल्मीकिजी भी पहले कुटिल थे और तुलसीदासजी ने भी पहले नाभाजी से कुटिलता की थी।

(१२) मीराबाई का पत्र

मेवाड़ के राजकुमार भोजराज की बधू मीराबाई बड़ी ही भगवद्भक्त थीं। साधुसमागम में उनका समय बीतता था, इससे संसार के उपहास के कारण राणा जी को बहुत बुरा लगता था। उन्होंने बहुत कुछ समझाया बुझाया, पर मीरा ने एक न मानी। तब मीरा को मारने के बहुत से उपाय किए गए, पर भगवत्कृपा से सब व्यर्थ हुए। अन्त में कुटुम्बवालों की ताड़ना सहते सहते मीराबाई का चित्त ऊब गया। उन्होंने गोस्वामी तुलसीदासजी का यश सुना था; अतः उनको नीचे लिखा पत्र भेजा और पूछा कि मुझको क्या करना चाहिए।

"स्वस्ति श्रीतुलसी गुण दूषनहरण गुसाईं।
बारहिं बार प्रणाम करहुँ अब हरहु सोक समुदाई॥
घर के स्वजन हमारे जेते सबन उपाधि बढ़ाई।
साधुसंग अरु भजन करत मोहिं देत कलेस महाई॥
बालपने तें मीरा कीन्हीं गिरधरलाल मिताई।
सो तो अब छूटत नहिं क्यों हूँ लगी लगन बरियाई॥
मेरे मात पिता के सम हौ हरि-भक्तन सुखदाई।
हम को कहा उचित करिबो है सो लिखिये समुझाई॥

गोसाईं जी ने उत्तर में यह पद लिख भेजा—

"जिनके प्रिय न राम वैदेही।
तजिये तिन्हें कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥
* तात मात भ्राता सुत पति हित इन समान कोउ नाहीं।
* रघुपति बिमुख जानि लघु तृन इव तजत न सुकृत डेराहीं॥
तज्यो पिता प्रहलाद विभीषन बन्धु भरत महतारी।
गुरु बलि तज्यो कंत ब्रज बनितन भे सब मंगलकारी॥

* बहुत पुस्तकों में ये दो चरण नहीं हैं।

नातो नेह राम को मानिय सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कौन आँखि जौं फूटे वहुतै-कहौं कहाँ लौं॥
तुलसी सोइ सब भाँति आपनो पूज्य प्रान तें प्यारो।
जा तें होइ सनेह राम सौं सोई मतो हमारो॥"

यह उत्तर पाकर मीरा ने घर छोड़ दिया और वे तीर्थाटन को निकल गईं।

यह आख्यायिका वहुत प्रसिद्ध है, परन्तु मीराजी के समय में और गोस्वामी जी के समय में बड़ा अन्तर पड़ता है। मीरावाई की मृत्यु संवत् १६०३ में हो चुकी थी। जान पड़ता है कि तुलसीदास जी और मीरावाई के पत्रव्यवहार की वात विलकुल मनगढ़न्त है।

(१३) कुछ फुटकर वातें

१—कहते हैं कि रामायण वनने के पीछे एक दिन गोसाईं जी मणिकर्णिका घाट पर नहा रहे थे। एक पंडित ने, जिन्हें अपने पाण्डित्य का वड़ा घमण्ड था, इनसे पूछा कि "महाराज, आप ने संस्कृत के पंडित होकर अपने ग्रंथ को गँवारी भाषा में क्यों वनाया?" गोसाईं जी ने कहा "इसमें संदेह नहीं कि मेरी गँवारी भाषा अभावपूर्ण है, पर आपके संस्कृत के नायिका-वर्णन से अच्छी ही है"। उसने पूछा "यह कैसे?" गोसाईं जी ने कहा—

"मनि भाजन विष पारई पूरन अमी निहार।
का छाँड़िय का संग्रहिय कहहु विवेक विचार॥"

(यह दोहा दोहावली का ३५१ वाँ दोहा है; पर उस में और इस में कुछ पाठान्तर है।)

२—घनश्याम शुक्ल संस्कृत के अच्छे कवि थे, पर भाषा कविता करना उन्हें अधिक रुचता था। उन्होंने धर्मशास्त्र के कुछ ग्रंथ भाषा में वनाए। इस पर एक पण्डित ने उनसे कहा कि "इस विषय को देववाणी संस्कृत में न लिखने से ईश्वर अप्रसन्न होते हैं। आगे से

आप उसीमें लिखा कीजिए।" उन्होंने इस की सलाह तुलसीदास से पूछी। उन्होंने कहा—

"का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहियतु साँच।
काम जो आवइ कामरी का लै करै कुमाच ॥"

(यह दोहावली का ५७१ वाँ दोहा है और सतसई में भी है।)

३—एक दिन एक अलखिए फकीर ने आकर "अलख, अलख" पुकारा। इस पर तुलसीदास जी ने कहा—

हम लखि लखहि हमार लखि हम हमार के बीचु।
तुलसी अलखै का लखै रामनामु जपु नीचु" ॥

४—ज़िला सारन के मैरवा गाँव में हरीराम ब्रह्म का ब्रह्मस्थान है। कहते हैं कि कनकशाही विसेन के अत्याचार से आत्महत्या करके हरीराम ब्रह्म बने थे। यहाँ रामनवमी के दिन बड़ा मेला लगता है। कहते हैं कि इन हरीराम के यज्ञोपवीत के समय तुलसी दास जी भी उपस्थित थे।

५—वैजनाथ जी के ग्रंथ से नीचे लिखे स्फुट वृत्तान्त लिखे जाते हैं।

(१) गोसाईं जी के दर्शन और उपदेश से एक वेश्या को ज्ञान हुआ और वह सब तज हरि भजने लगी।

२—एक पण्डित जीविकाहीन बड़े दुखी थे। उनके लिये श्रीगंगा जी ने गोसाईं जी की विनती पर काशी के उस पार बहुत सी भूमि छोड़ दी।

(३) मुर्दा जिलाने पर लोगों की भीड़ गोसाईं जी के दर्शन को आया करती थी। गोसाईं जी गुफा में रहते थे। एक बार बाहर निकलकर सब को दर्शन दे देते थे। तीन लड़के दर्शन के नेमी थे। एक दिन वे तीनों नहीं आए। गोसाईं जी ने उस दिन किसी को दर्शन न दिया। लोगों को बहुत बुरा लगा। दूसरे दिन लड़के भी आए, परंतु उनकी परीक्षा के लिये उस दिन भी गोसाईं जी ने किसी को

दर्शन न दिया। लड़कों से वियोग न सहा गया। वे तड़पकर मर गए। तब गोसाईं जी ने चरणामृत देकर उनको जिलाया। लोग उनका प्रेम देखकर धन्य धन्य कहने लगे।

(४) एक तान्त्रिक दण्डी की स्त्री को कोई वैरागी भगा ले गया था। दण्डी को यक्षिणी सिद्ध थी। उसके द्वारा उसने बादशाह को पकड़ मँगाया और हुक्म जारी करा दिया कि सब की माला उतार ली जाय और तिलक मिटा दिए जायँ। जब काशी में गोसाईं जी के पास राजदूत आए तो सब को भयंकर काल का रूप दिखाई दिया। सब भागे और गोसाईं जी के प्रताप से जिन लोगों की कण्ठी-माला उतरी थी, उनके पास सब आप से आप पहुँच गई।

(५) अयोध्या का एक भंगी काशी में आकर रहा था। उसके मुँह से अवध का नाम सुनकर वे प्रेम-विह्वल हो गए। उन्होंने उस का बड़ा सत्कार किया और बहुत कुछ देकर उसे विदा किया।

(६) एक समय वे जनकपुर गए थे। वहाँ के ब्राह्मणों को श्रीरामचंद्र जी के समय से बारह गाँव माफी दान मिले थे, जिनको पटने के सूबेदार ने छीन लिया था। गोसाईं जी ने श्रीहनुमान जी की सहायता से उनके पट्टे फिर उनको लौटवा दिए।

(७) काशी में वनखण्डी में एक प्रेत इन के दर्शन से प्रेतयोनि से मुक्त हो गया।

(८) चित्रकूट-यात्रा के समय रास्ते में एक राजा की कन्या को चरणामृत देकर इन्होंने पुरुष बना दिया। इसके प्रमाण में दोहावली के ये दो दोहे कहे जाते हैं—

"कबहुँक दरसन संत के पारस मनी अतीत।
नारी पलट सो नर भयो लेत प्रसादो सीत॥
तुलसी रघुबर सेवतहिं मिटि गो कालो काल।
नारी पलट सो नर भयो ऐसे दीन दयाल॥

(६) प्रयाग में वे गोसाईं मुरारिदेव जी से मिले थे।

(१०) मलूकदास और स्वामी दरियानंद से उनकी भेंट हुई थी।

(११) चित्रकूट मंदाकिनी में एक ब्राह्मण की दरिद्रता छुड़ाने के लिये दरिद्रमोचनशिला आप से आप निकल आई जो अब तक है।

(१२) दिल्ली से लौटते हुए एक ग्वाले को उपदेश देकर उन्होंने मुक्त कर दिया था। उसका स्थान अब तक है।

(१३) वृंदावन में किसी ने कहा कि श्रीकृष्ण पूर्णावतार हैं और श्रीराम अंशावतार हैं, आप श्रीकृष्ण का ध्यान क्यों नहीं करते? गोसाईं जी ने कहा कि मेरा मन तो दशरथ-नंदन के सुंदर श्याम स्वरूप ही पर लुभा गया था। अब विदित हुआ कि वे ईश्वर के अंशावतार भी हैं, तो यह और भी अच्छा हुआ। वृंदावन में उन्होंने कई चमत्कार दिखाए।

(१४) संडिले के स्वामी नन्दलाल गोसाईं जी से चित्रकूट में आकर मिले। गोसाईं जी ने उन्हें अपने हाथ से रामकवच लिखकर दिया था।

(१५) मुक्तामणिदास को जो एक महात्मा अवध में थे, बनाए पदों पर गोसाईं जी बहुत ही रीझे थे।

(१६) अवध से वे नैमिषारण्य आए। सूकर क्षेत्र का दर्शन किया और पसका में कुछ दिन रहे। सिवार गाँव में भी कुछ दिन रहे। यहाँ सीताकूप है। यह स्थान श्रीसीताजी का है। कुछ दिन वे लक्ष्मणपुर (लखनऊ?) में रहे। वहाँ के एक निरक्षर दीन जाट को अच्छा कवि बना दिया और उसकी अच्छी जीविका करा दी। वहाँ से थोड़ी दूर मड़िहाऊँ गाँव में भीष्म नामक एक भक्त रहते थे। उनके बनाए नखसिख को सुनकर वे बहुत प्रसन्न हुए। वहाँ उनसे मिलने के लिये गए। चनहट गाँव होते, एक कूएँ का जल पीते और उस जल की बड़ाई करते मलीहाबाद में आकर उन्होंने

डेरा किया। वहाँ एक भाट भक्त थे, उनको अपनी रामायण दी *। वहाँ से प्रभाती में स्नान करके वाल्मीकिजी के आश्रम से होते, रसूलाबाद के पास कोटरा गाँव में वे आए। यहाँ वे अनन्यमाधव से मिले। ये बड़े भक्त और कवि थे। यहाँ गोसाईं जी ने "मैं हरि पतितपावन सुने" पद बनाया। अनन्य माधवदास ने उत्तर में यह पद बनाया—

"तब तें कहाँ पतित नर रह्यो।
जब तें गुरु उपदेस दीन्हो नाम नौका गह्यो॥
लोह जैसे परसि पारस नाम कंचन लह्यो।
कस न कसि कसि लेहु स्वामी अजन चाहन चह्यो।
उभरि आयो विरह बानी मोल महँगे कह्यो।
खीर नीर तें भयो न्यारो नरक तें निर्वह्यो॥
मूल माखन हाथ आयो त्यागि सरवर मह्यो।
अनन्य माधवदास तुलसी भवजलधि निर्वह्यो॥

वहाँ कुछ दिन रहकर वे ब्रह्मावर्त्त (बिठूर) में गंगा तट पर आ रहे। वहाँ से वाल्मीकि जी के स्थान से होते संडीले में आए। रास्ते में ठहरते ठहराते, नैमिषारण्य होते फिर वे अवध में आ गए।

(१७) संडीले में एक ब्राह्मण को वे कह आए थे कि तुम्हें बड़ा कृष्णभक्त बेटा होनेवाला है। ऐसा ही हुआ। उनके पुत्र मिश्र वंशीधर बड़े भक्त और कवि हुए।

(१८) नैमिषारण्य में एक महात्मा रहते थे; उनसे वे मिले।

(१९) मिसिरिख के पास जैरामपुर एक गाँव है, वहाँ आकर

---

* कहते हैं कि रामायण की यह प्रति अब तक वर्तमान है। हमें भी इस के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हो चुका है। यह जिन के अधिकार में है, वे उसकी परीक्षा नहीं करने देते। साथ ही लोग यह भी कहते हैं कि इस में कई स्थानों पर क्षेपक हैं। इस से इस प्रति के तुलसीदास जी द्वारा लिखित होने में संदेह होता है।

उन्होंने एक सूखी डाली गाड़ दी जो हरी हो गई। उसका नाम उन्होंने वंशीवट रक्खा और आज्ञा की कि श्रीराम-विवाहोत्सव के दिन अगहन सु० ५ को यहाँ रासलीला कराया करो। वह प्रति वर्ष अब तक होती है।

(२०) रामपुर में जगात के लिये इनकी नाव रोक दी गई थी। तब उन्होंने सब कुछ वहीं लुटा दिया। ज़मींदार ने जब सुना तो वह आकर पैरों पर गिरा और बड़े आग्रह से उन्हें घर लाया। प्रसन्न होकर उसको उन्होंने एक प्रति रामायण की दी।

(२१) कवि गंग गोसाईं जी से मिलने काशी आए थे।

(२२) जहाँगीर उनसे मिलने आया था और उसने बहुत कुछ देना चाहा, पर गोसाईं जीने कुछ ग्रहण न किया।

६—पण्डित महादेवप्रसाद त्रिपाठी ने "भक्तिविलास" नामक ग्रंथ गोसाईं जी के चरित्र-वर्णन में लिखा है। उससे जो विशेष बातें विदित हुईं, वे भी यहाँ लिखी जाती हैं।

(१) गोसाईं जी के माता पिता का स्थान पत्यौजा में था। गर्भस्थिति अन्तर्वेद के तरी गाँव में हुई। वहाँ से आकर राजापुर में गोसाईं जी का जन्म हुआ।

(२) वे लोग मालवा की ओर चले। रास्ते में सूकरक्षेत्र (सोरों) में नरहरिदास से तुलसीदासजी ने रामचरित्र की कथा सुनी।

(३) माता-पिता ने इनका जनेऊ किया और विद्या पढ़ाई। बचपन में नरहरिदास ने उपदेश किया। जब माँ-बाप मर गए, तब गुरु ने आज्ञा देकर इन्हें राजापुर भेजा। वहाँ इन्होंने विवाह किया। फिर स्त्री का उपदेश हुआ।

(४) ब्रज में * सूरदास से इनकी भेंट हुई।

---

* किसी ने तुलसीदास से सूरदास की प्रशंसा की। इस पर तुलसीदास ने कहा—

कृष्णचंद्र के सूर उपासी। तातें इनकी बुद्धि हुलासी॥
रामचंद्र हमरे रखवारा। तिनहिं छाँड़ि नहिं कोउ संसारा॥

(५) ओड़छे में केशवदास को इन्होंने प्रेतयोनि से छुड़ाया ।

(६) टोडरमल्ल काशी में इनकी सेवा करते थे ।

७—महाराज रघुराजसिंह ने अपने भक्तमाल में जो चरित्र लिखा है, उसमें जो विशेष बातें हैं, वे लिखी जाती हैं—

(१) स्त्री के उपदेश के पीछे गुरु ने सूकरक्षेत्र में रामायण का उपदेश दिया ।

(२) एक ब्राह्मण के लड़के को इन्होंने हनुमानजी के द्वारा यम-पुरी से लौटा मँगाया ।

(३) दिल्ली में एक मतवाला हाथी इन पर टूटा। श्रीरामचंद्रजी ने तीर से उसको मार गिराया ।

(४) काशी में विनयपत्रिका बनाकर विश्वनाथजी के मंदिर में इन्होंने रख दी थी । विश्वनाथजी ने उस पर सही कर दी ।

(१४) मृत्यु

जहाँगीर सन् १६०५ (संवत् १६६२) में गद्दी पर बैठा और सन् १६२७ (संवत् १६८४) में उसकी मृत्यु हुई । उसके राजत्वकाल में सन् १६१६ (संवत् १६७३) में पंजाब में महामारी (प्लेग) फैली और सन् १६१८ (संवत् १६७५) से ८ वर्ष तक आगरे में उसका प्रकोप रहा । तुजुक जहाँगीरी में उसकी भीषणता का पूरा वर्णन है । आगरे में उससे १०० मनुष्य नित्य मरते थे, लोग घर द्वार छोड़कर भाग गए थे, मुर्दों को उठानेवाला कोई नहीं था, कोई किसी के पास नहीं जाता था ।

कवितावली के ३१२ वें कवित्त में तुलसीदासजी ने लिखा है—

"बीसी विस्वनाथ की विषाद बड़ो बारानसी बूझिए न ऐसी गति शंकर सहर की ।" इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय रुद्रबीसी थी । ज्योतिष की गणना के अनुसार यह समय संवत् १६६५ से १६८५ तक का है ।

कवित्त ३१८ में तुलसीदासजी काशी में महामारी होने का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

शंकर सहर नर नारि वारि चर गर विकल सकल महामारी माया भई है। उछरत, उतरात, हहरात, मरि जात, भभरि भगात जल थल मीचु मई है। देव न दयाल, महिपाल न कृपाल चित, वारानसी बाढ़ति अनीति नित नई है। पाहि रघुराज पाहि कपिराज रामदूत राम हू की बिगरी तुही सुधारि लई है।

इससे स्पष्ट है कि संवत् १६६५ और १६८५ के बीच में काशी में महामारी का उपद्रव हुआ था। यह समय पंजाब और आगरे में इसके प्रकोप-काल से जो ऊपर दिया है, मिलता है।

कवित्त ३१६ में तुलसीदासजी लिखते हैं—

एक तो कराल कलिकाल सूलमूल तामें
कोढ़ में की खाज सी सनीचरी है मीन को।
वेद धरम दूरि गए भूपचोर भूप भए
साधु सिद्ध मान जात बीते पाप पीन को॥
दूसरे को दूसरो न धाम राम दयाधाम
रावरोई गति बल बिभव बिहीन को।
लागैगी पै लाज विराजमान बिरदहिं
महाराज आजु जो न देत दाद दीन को॥

इससे यह प्रकट है कि जिस समय का यह वर्णन है, उस समय मीन के शनिश्चर थे। गणना के अनुसार मीन के शनिश्चर संवत् १६६६ से १६७१ तक थे। अतएव यह संभव जान पड़ता है कि काशी में महामारी का प्रकोप उसके आगरे में फैलने के ४-५ वर्ष पहले हुआ हो। जो हो, इसमें संदेह नहीं कि सत्रहवें शताब्द के अंतिम चतुर्थांश में काशी में प्लेग फैला हुआ था।

कवितावली का अंतिम अंश हनुमानबाहुक है जो ३२२ वें कवित्त से आरंभ होता है। इसके कुछ अंश हम नीचे उद्धृत करते हैं

जिससे यह विदित होगा कि तुलसीदास जी को महामारी रोग हो गया था।

जानिये जहान हनुमान को नेवाजो जन
अनुमानि मन वलि वोलि न विसारिये।
सेवा जोग तुलसी कवहुँ कहा चूक परी
साहिब सुभाय कपि साहिव सँभारिये।
अपराधी जानि कीजे साँसति सहस भाँति
मोदक मरै जो ताहि माहुर न मारिये।
साहसी समीर के दुलारे रघुबीर जी के
वाँहपीर महावीर वेगही निवारिये ॥३४५॥

वाहुतरुमूल बाहु सूल कपि कछु वेलि
उपजी सकेलि कपि केलि ही उपारिये।
भालकी कि काल कि रोष की त्रिदोष की है
वेदन विषम पाप ताप छल छाँह की।
करम न फूट की कि जंत्र मंत्र वूट की
पराहि जाहि पापिनी मलीन मन माँह की।
पैहहि सजाई नत कह वजाइ तोहि
वावरी न होहि वानि जानि कपिनाह की।
आन हनुमान को दोहाई वलवान की
सपथ महावीर की जो रहे पीर वाँह की ॥३५१॥

आपने ही पाप तें त्रिताप तें कि साप तें,
वढ़ी है बाँह वेदन सही न कही जाति है।
औषध अनेक जंत्र मंत्र टोटकादि किये,
वादि भये देवता मनाये अधिकाति है।
करतार भरतार हरतार कर्मकाल को है
जगजाल जो न मानत इताति है।

चेरो तेरो तुलसी तूँ मेरो कह्यो रामदूत
ढील तेरी बीर मोहि पीर न पिराति है ॥ ३५६ ॥

पाय पीर पेट पीर बाँह पीर मुँह पीर
जराजुर सकल सरीर पीरमई है।
देव भूत पितर करम खल काल ग्रह
मोहि पर दवरि कमान कसी दई है।
हौं तो बिन मोल ही बिकानो बलि बारे ही तें
ओट राम नाम की ललाट लिखि लई है।
कुंभज के किंकर बिकल बूड़े गोखुरनि
हाय रामराय ऐसी हाल कहूँ भई है ॥ ३६२ ॥

जियौं जग जानकी जीवन को जन कहाय
मरिबे को बारानसि बारि सुरसरि को।
तुलसी के दुहूँ हाथ मोदक है ऐसी ठाउँ
जाके मुए जिए सोच करिहैं न लरिको।
मोको झूठो साँचो लोग राम को कहत
सब मेरे मन मान है न हर को न हरि को।
भारी पीर दुसह सरीर तें बिहाल होत
सोऊ रघुबीर बिनु दूरि सकै करि को ॥ ३६५ ॥

अंतिम कवित्त यह है—

कहौं हनुमान सों सुजान राम राय सों
कृपानिधान शंकर सावधान सुनिये।
हरष विषाद राग रोष गुन दोषमई
बिरची बिरंचि सब देखियत दुनिये।
माया जीव काल के करम के सुभाउ के करैया
राम बेद कहै ऐसी मन गुनिये।
तुम्ह तें कहा न होइ हाहा सो बुझैये मोहि
हौंहूँ रहौं मौन ही बयो सो जानि लूनिये ॥ ३६७ ॥

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि तुलसीदास जी की बाँह में पीड़ा प्रारम्भ हुई, फिर कोख में गिलटी हुई। धीरे धीरे पीड़ा बढ़ती गई, ज्वर भी आने लगा, सारा शरीर पीड़ामय हो गया। अनेक उपाय किए, जंत्र, मंत्र, टोटका, ओषधि, पूजा-पाठ सब कुछ किया, पर किसी से कुछ लाभ न हुआ। बीमारी बढ़ती ही गई। सब तरह की प्रार्थना कर जब वे थक गए, तब अंत में यही कहकर संतोष किया कि जो बोया है, सो काटते हैं। कवित्त ३६७ बीमारी के बहुत बढ़ जाने और जीवन से निराश होने पर कहा गया था। ऐसा जान पड़ता है कि इसके अनंतर तुलसीदास जी गंगा तट पर आ पड़े। वहाँ पर क्षेमकरी के दर्शन करके उन्होंने यह कवित्त कहा था जो कवितावली के अंतिम भाग में है।

कुंकुम रङ्ग सुअंग जितो मुखचंद सो चंदन होड़ परी है।
बोलत बोल समृद्ध चवै अवलोकत सोच विचार हरी है॥
गौरी कि गङ्ग विहंगिनि वेष कि मंजुल मूरति मोद भरी है।
पेखु सपेम पयान समै सब सोच-विमोचन क्षेमकरी है॥

इस कवित्त में "पेखु सपेम पयान समै" से स्पष्ट है कि यह कवित्त मरने के कुछ ही पूर्व कहा गया था।

कहते हैं कि तुलसीदास जी का अंतिम दोहा यह है—

रामनाम-जस बरनि कै, भयउ चहत अब मौन।
तुलसी के मुख दीजिये, अब ही तुलसी सोन॥

इन सब बातों पर ध्यान देकर यही सिद्धांत निकलता है कि गोस्वामी तुलसीदास जी की मृत्यु काशी में प्लेग के कारण हुई। इन की मृत्यु के संबंध में यह दोहा प्रसिद्ध है—

संवत सोरह सै असी असी गंग के तीर।
सावन सुक्ला सप्तमी तुलसी तज्यो शरीर॥

हनुमानबाहुक का ३५६ वाँ कवित्त यह है—

घेरि लियो रोगनि कुजोगनि कुलोगनि ज्यों

बासर सजल घन घटा घुकि धाई है।
बरखत बारि पीर जारिये जवास ज्यों
सरोष बिनु दोष धूम मूल मलिनाई है।
करुनानिधान हनुमान महाबलवान हेरि
हँसि हाँकि फूँकि फौज तें उड़ाई है।
खाये हुती तुलसी कुरोग राँड राकसिनि
केसरी किसोर राखे बीर बरिआई है॥

इस से यह निकलता है कि तुलसीदास जी वर्षा ऋतु में रोग-ग्रस्त हुए थे। इससे श्रावण मास में उनकी मृत्यु का होना ठीक जान पड़ता है।

(१५) गोस्वामी जी का मत

गोस्वामी जी स्मार्त्त वैष्णव थे। यह बात उनके ग्रंथों से तो प्रकट होती है; एक दूसरा पक्का प्रमाण भी इसका है। जिस दिन उन्होंने 'रामचरित मानस' आरंभ किया था, उस दिन अर्थात् मंगल-वार को उदय काल में रामनवमी नहीं थी। मध्याह्न में थी। मध्याह्न-व्यापिनी नवमी स्मार्त वैष्णवों के मत से ही मानी जाती है। स्मार्त वैष्णव वेद-स्मृति विहित संस्कार और आचार-विचार का पालन करते हुए सब देवताओं का पूजन आदि करते हैं। किसी से द्वेष नहीं रखते केवल भक्ति के लिये अपना इष्ट देव विष्णु भगवान् को मानते हैं। इसी उदार मत के भीतर रहकर तुलसीदास जी लोकधर्म की उस मर्य्यादा और माधुर्य्य का प्रत्यक्षीकरण कर सकते थे जिसके लिये उनका आविर्भाव हुआ था।

पर उनकी इस उपासना-सम्बन्धिनी उदारता की एक हद थी। वे उपास्य का स्वरूप धर्ममय ही चाहते थे। भूतप्रेत पूजनेवालों के प्रति उनका यह उदार भाव नहीं था जो अपनी विद्या-बुद्धि के अनुसार परोक्ष शक्ति की जिस रूप में भावना कर सकता है, उसका

उसी रूप में उपासना करना ठीक है—वह उपासना तो करता है। भूतप्रेत पूजनेवालों की। गति तो वे वैसी ही बुरी बताते हैं, जैसी किसी दुष्कर्म से होती है—

जे परिहरि हरि हर-चरन भजहिं भूतगन घोर।
तिन्हकै गति मोहिं देउ विधि जो जननी मत मोर॥

फिर भी उनकी यह अनुदारता उस कट्टरपन के दरजे को नहीं पहुँची है जिसके जोश में अंग्रेज़ कवि मिल्टन ने प्राचीन सभ्य जातियों के उपास्य देवताओं को ज़बरदस्ती खींचकर शैतान की फ़ौज में भरती किया है—उस कट्टरपन के दरजे को नहीं पहुँची है जो दूसरे धर्मों की उपासना-पद्धति (जैसे, मूर्ति-पूजा) को अपने यहाँ के गुनाहों की फ़िहरिस्त में दर्ज करती है। गोस्वामी जी का विरोध तो इस सिद्धान्त पर है कि जो जिसकी उपासना करता है, उसका आचरण भी उसी के अनुरूप रहता है।

"विश्वास" के संबंध में भी उनकी प्रायः वही धारणा समझिए जो उपासाना के संबंध में है। यदि विश्वास का आलंबन वैसा श्रेष्ठ और सात्त्विक नहीं है तो उसे वे 'अन्ध विश्वास' मानते हैं—

लही आँखि कब आँधरे, बाँझ पूत कब ल्याय।
कब कोढ़ी काया लही, जग बहराइच जाय॥

(१६) स्वभाव और प्रकृति

समकालीन साक्ष्य के अभाव में हमें इस विषय का केवल अनुमान ही उनके शब्दों द्वारा करना पड़ता है। उनके ऐसे पहुँचे हुए भक्त के दैन्य और विनय के विषय में तो कहना ही क्या है? सारी विनयपत्रिका इन दोनों भावों के अपूर्व उद्गारों से भरी हुई है। 'रामचरित मानस' ऐसा अमर कीर्त्तिस्तम्भ खड़ा करते समय भी उनका ध्यान अपनी लघुता पर से न हटा। वे यही कहते रहे—

कवि न होउँ, नहिं चतुर प्रबीना। सकल कला सब विद्या-हीना॥

कबित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे॥
बंचक भगत कहाइ राम के। किंकर कंचन कोह काम के।
तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। धिग धर्मध्वज धँधरक धोरी॥
जौं अपने अवगुन सब कहऊँ। बाढ़इ कथा पार नहिं लहऊँ॥

पर यह भी समझ रखना चाहिए कि 'लघुत्व' की यह परमानुभूति परम महत्व के साक्षात्कार के कारण थी। अतः लोक-व्यवहार के भीतर उसका कितना अंश समा सकता था, इसका विचार भी हमें रखना पड़ता है। दुष्टों और खलों के सामने उसकी उतनी मात्रा नहीं रह सकती थी, जो गोस्वामी जी को उन्हें दुष्ट और खल कहने तथा उनके स्वरूप पर ध्यान देने से रोक देती। साधुओं की वंदना से छुट्टी पाते ही वे खलों को याद करते हैं। उनकी वंदना करके भी वे उनसे अनुग्रह की आशा नहीं रखते, क्योंकि अनुग्रह करना तो उनका स्वभाव ही नहीं—

बायस पालिय अति अनुरागा। होहि निरामिष कबहुँ कि कागा॥

राम के सामने तो उन्हें अपने ऐसा कोई खल ही संसार में नहीं दिखाई देता, उनके सामने तो वे कदापि यह नहीं कह सकते कि क्या मैं उससे भी खल हूँ। यहाँ तो वे "सब पतितों के नायक" बन जाते हैं। पर जब खलों से वास्ता पड़ता है, तब उनके सामने वे अपना लघुत्व-प्रदर्शन नहीं करते; उन्हें कौवा कहते हैं और आप कोयल बनते हैं—

खल-परिहास होहि हित मोरा। काक कहहिं कलकंठ कठोरा॥

जबतक 'साधना' के एकांत क्षेत्र में रहते हैं, तब तक तो वे अपने सात्त्विक भावों को ऊँचे चढ़ाते चले जाते हैं; पर जब व्यवहार-क्षेत्र में आते हैं, तब उन्हें कम से कम अपने वचनों का सामंजस्य लोक-धर्म के अनुसार संसार की विविध वृत्तियों के साथ करना पड़ता है। पर इससे उनके अंतःकरण में कुछ भी मलिनता नहीं आती, व्यक्ति के प्रति ईर्ष्या द्वेष का उदय नहीं होने पाता। द्वेष

उन्हें दुष्कर्म से है, व्यक्ति से नहीं। भारी से भारी खल के संबंध में भी उनकी बुद्धि ऐसी नहीं हो सकती कि अवसर मिलता तो इसकी कुछ हानि करते।

सबसे अधिक चिढ़ उन्हें 'पाषंड' और 'अनधिकार-चर्चा' से थी। खलों के साथ समझौता तो वे अपने मन को इस तरह समझा कर कि—

सुधा सुरा सम साधु असाधू। जनक एक जग-जलधि अगाधू॥

बड़ी जल्दी कर लेते हैं, पर 'पाषंडियों' और बिना समझी बूझी बातें बककर अपने को ज्ञानी प्रकट करनेवालों से उनकी विधि नहीं बैठती थी। उनकी बातें सुनते ही वे चिढ़ जाते थे और कभी कभी फटकार भी देते थे। एक साधु को बार बार 'अलख अलख' कहते सुनकर उनसे न रहा गया। वे बोल उठे—

तुलसी अलखहि का लखै, राम नाम जपु नीच।

इस 'नीच' शब्द से ही उनकी चिड़चिड़ाहट का अंदाज कर लीजिए। आडंबरियों और पाषंडियों ने उन्हें कुछ चिड़चिड़ा कर दिया था।

इससे प्रकट होता है कि उनके अतःकरण की सबसे प्रधान वृत्ति थी सरलता, जिसकी विपरीतता वे सहन नहीं कर सकते थे। अतः इस थोड़ी सी चिड़चिड़ाहट को भी सरलता के अंतर्गत लेकर संक्षेप में हम कह सकते हैं कि गोस्वामी जी का स्वभाव अत्यन्त सरल, शांत, गंभीर और नम्र था। सदाचार की तो वे मूर्त्ति थे। धर्म और सदाचार को दृढ़ न करनेवाले भाव को—चाहे वह कितना ही ऊँचा हो—वे भक्ति नहीं मानते थे। उनकी भक्ति वह भक्ति नहीं है जिसे कोई लंपटता या विलासिता का आवरण बना सके।

यद्यपि गोस्वामी जी निरभिमान थे, पर लोभवश या भयवश अपनी हीनता प्रकट करने को वे सच्चा 'दैन्य' नहीं समझते थे, आत्मगौरव का ह्रास समझते थे। राम की शरण में जाकर वे

निर्भय हो चुके थे, राम से याचना करके वे अयाचमान हो चुके थे, अतः—

किरपा जिनकी कछु काज नहीं, न अकाज कछू जिनके मुख मोरे।

उनकी प्रशंसा या खुशामद करने वे क्यों जाते? उनकी प्रशंसा करना वे सरस्वती का गला दबाना समझते थे—

कीन्हें प्राकृत जन गुन-गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना॥

इस समझ के अनुसार वे बराबर चले। उन्होंने कहीं किसी ग्रंथ में अपने समय के किसी मनुष्य की प्रशंसा नहीं की है। केवल सच्चे स्नेह के नाते, उत्तम आचरण पर रीझकर, उन्होंने अपने मित्र टोडर के संबंध में चार दोहे कहे हैं।

भारत भूमि में उत्पन्न होना वे गौरव की बात समझते थे। इस भूमि में और अच्छे कुल में जन्म को वे अच्छे कर्मों के साधन का भगवान् की कृपा से मिला हुआ अच्छा अवसर मानते थे—

(क) भलि भारत भूमि, भले कुल जन्म समाज सरीर भलो लहिकै।
जो भजै भगवान सयान सोई तुलसी हठ चातक ज्यों गहिकै॥

(ख) दियो सुकुल जनम सरीर सुंदर हेतु जो फल चारि को।
जो पाइ पंडित परमपद पावत पुरारि मुरारि को॥
यह भरतखंड समीप सुरसरि, थल भलो, संगति भली।
तेरी कुमति कायर कलपबल्ली चहति विषफल फली॥

(१७) ग्रंथ-रचना

गोस्वामी जी के रचित बारह ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं जिनमें ६ बड़े और ६ छोटे हैं—

बड़े ग्रन्थ	छोटे ग्रन्थ
दोहावली	रामलला नहछू
कवित्त रामायण	पार्वती मंगल
गीतावली	जानकी मंगल
रामचरितमानस	बरवै रामायण

रामाज्ञा , वैराग्य संदीपनी
विनयपत्रिका कृष्णगीतावली

इनके अतिरिक्त नीचे लिखे दस और ग्रंथों के नाम शिवसिंह-सरोज आदि में मिलते हैं—

१—रामसतसई
२—संकटमोचन
३—हनुमद्बाहुक
४—रामसलाका
५—छंदावली
६—छप्पय रामायण
७—कडखा रामायण
८—रोला रामायण
९—झूलना रामायण
१०—कुंडलिया रामायण

इनमें से कई एक तो मिलते ही नहीं और कई दूसरे ग्रन्थों के अंशमात्र हैं, परंतु एक "रामसतसई" बड़ा ग्रन्थ है। संभव है कि किसी एक ग्रंथ के दो नाम पड़ जाने से वे दो बार गिने गए हों।

रामसतसई में सात सौ से कुछ अधिक दोहे हैं, जिनमें से लगभग डेढ़ सौ दोहावली के हैं। मिर्ज़ापुर के प्रसिद्ध रामायणी पंडित रामगुलाम द्विवेदी जी ने इस ग्रंथ का नाम गोसाईं जी के १२ ग्रंथों में नहीं गिनाया है; परंतु पंडित शेषदत्त शर्मा उपनाम फनेश कवि ने इसे गोसाईं जी का बतलाकर इस पर टीका की है। महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर जी ने इसपर कुंडलिया बनाकर उसका नाम तुलसी-सुधाकर रक्खा है। पंडित जी ने अनेक कारण दिखलाकर यह सिद्ध किया है कि यद्यपि इसमें बहुत से दोहे गोसाईं जी के हैं, तथापि यह किसी तुलसी नामक कायस्थ कवि का बनाया ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ संवत् १६४२, वैसाखसुदि ९ गुरुवार को बना था—

"अहि-रसना, थन-धेनु रस, गनपति द्विज, गुरुवार।
माधव सित सिय जनम तिथि, सतसैया अवतार॥"
[रामसतसई]

ग्रंथों का विवरण

अब हम तुलसीदासजी के बारहों ग्रंथों का वर्णन करते हैं—

रामलला नहछू*—यह छोटा सा ग्रंथ बीस तुकों का सोहर छंद में है। भारतवर्ष के पूर्वीय प्रांत में अवध से लेकर बिहार तक बारात के पहले चौक बैठने के समय नाइन के नहछू कराने की रीति बहुत प्रचलित है। इस ग्रंथ में वही लीला गाई गई है। इधर का सोहर एक विशेष छन्द है जो स्त्रियाँ पुत्रोत्सव आदि आनंदोत्सवों पर गाती हैं। इसे कहीं कहीं सोहला भी कहते हैं। यह पुस्तक उसी छंद में है और बोली भी इसकी पूरबी अवधी ही है; जैसे—

"जे एहि नहछू गावहिं गाइ सुनावहिं हो।
रिद्धि सिद्धि कल्यान मुक्ति नर पावहिं हो॥"

पंडित रामगुलाम द्विवेदी का यह मत है कि नहछू चारों भाइयों के यज्ञोपवीत के समय का है। संयुक्त प्रदेश, मिथिला इत्यादि देशों में यज्ञोपवीत के समय भी नहछू होता है। रामचंद्र जी का विवाह अकस्मात् जनकपुर में स्थिर हो गया, इसलिये विवाह में नहछू नहीं हुआ। इस नहछू में कौशिल्या आदि की हास्यलीला लिखी हुई है।

वैराग्यसंदीपनी—यह ग्रंथ दोहा चौपाई में संत महात्माओं के लक्षण, प्रशंसा और वैराग्य के उत्कर्ष-वर्णन में लिखा गया है। इसमें तीन प्रकाश हैं। पहला ३३ छंदों का संत-स्वभाव-वर्णन, दूसरा ९ छंदों का संत-महिमा-वर्णन और तीसरा २० छंदों का शांति-वर्णन है। जान पड़ता है कि घर छोड़कर विरक्त होने के पीछे इसको तुलसीदास जी ने बनाया था।

---

* बारात के पहले मंडप में वर की माँ वर को नहला धुलाकर गोद में लेकर बैठती है और नाइन पैर के नखों को महावर के रंग से चीतती है। इसी रीति का नाम नहछू है।

बरवै रामायण†—छोटे बरवा छंद में यह छोटी सी पुस्तक है। इसमें राम-चरित-मानस की भाँति सात कांड हैं। (१) बालकांड, १६ छंद–राम-जानकी-छबि- वर्णन, धनुर्भंग, विवाह (आभासमात्र); (२) अयोध्याकांड, ८ छंद–कैकेयीकोप (आभासमात्र), राम वन-गमन, निषाद कथा, वाल्मीकिप्रसंग, (३) अरण्यकांड, ६ छंद–सूर्पणखाप्रसंग, कंचनमृग-प्रसंग, सीताविरह में राम-अनुताप; (४) किष्किन्धाकांड; २ छंद–हनुमानजी का रामचंद्र से पूछना कि आप कौन हैं (आभासमात्र), (५) सुंदरकांड, ६ छंद–जानकी का हनुमान से अपना विरह कहना, हनुमान का आकर रामचंद्र जी से जानकी की दशा कहना; (६) लंका-कांड, १ छंद–सेनासहित राम लक्ष्मण की युद्ध में शोभा, (७) उत्तरकांड, २७ छंद–चित्रकूट-वास-महिमा, नाम-स्मरण-महिमा।

प्रसिद्ध बरवा रामायण से जान पड़ता है कि इसे ग्रंथरूप में कवि ने नहीं बनाया था। समय समय पर यथारुचि स्फुट बरवे बनाए थे। पीछे से चाहे स्वयं कवि ने अथवा और किसी ने राम चरितमानस के ढंग पर कथा का आभासमात्र लेकर कांडक्रम से उन छन्दों का संग्रह कर दिया है। इसमें और ग्रन्थों की तरह मंगला-चरण भी नहीं है। यही दशा राम-चरित मानस को छोड़ प्रायः और रामायणों की भी देखने में आती है।

---

† शिवलाल पाठक कहते थे कि तुलसीदास का बरवा रामायण भारी ग्रंथ है। आजकल जो प्रचलित बरवा रामायण है, वह बहुत ही थोड़ा और छिन्न भिन्न है। कहावत है कि जब खानखाना को उनके मुंशी की बी की "प्रेम प्रीति के बिरवा चलेहु लगाया। सींचन की सुधि लीजो मुरझि न जाय" इस कविता से बिरवा अच्छा लगा, तब आपने भी इस छंद में बहुत कविता की और इष्टमित्रों से भी बहुत बनवाई। उसी समय खानखाना के कहने पर तुलसीदास ने भी बरवा रामायण बनाई।

पार्वतीमंगल—इस ग्रन्थ में शिव-पार्वती का विवाहवर्णन है। इसमें १४८ तुक सोहर छंद के हैं और १६ छंद हैं।

इसको तुलसीदास जी ने जय संवत् फागुनसुदी ५ गुरुवार अश्विनी नक्षत्र में बनाया। महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी जी के गणनानुसार जय संवत् १६४३ में होता है।

निम्न लिखित छंद से जान पड़ता है कि इस समय बहुत लोग तुलसीदास जी से बुरा मानते थे और इनकी निन्दा और इनसे विवाद करते थे:—

"पर अपवाद विभूषित बानिहिं। पावनि करउँ सो गाइभवेस भवानिहिं।"

यह पुस्तक आदि से अंत तक शुद्ध पूरबी अवधी में है, केवल कहीं कहीं ब्रजभाषा के एकाध कारक चिह्न दिखाई पड़ते हैं।

जानकी मंगल—इसमें श्रीसीताराम-विवाह-वर्णन है। १९२ सोहर छंद और २४ छंद हैं। ग्रंथ बनाने का समय नहीं दिया है, केवल "सुभ दिन रचेउँ स्वयंवर मंगलदायक" लिख दिया है। परंतु "पार्वतीमंगल" और यह दोनों एक ही समय के बने जान पड़ते हैं, क्योंकि दोनों का एक ही ढंग और एक ही छंद है। यहाँ तक कि मंगलाचरण भी एक ही भाव का है, यथा—

पार्वतीमंगल—विनइ गुरुहि गुनिगनहिं गिरिहिं गननाथहिं।
जानकीमंगल—गुरु गनपति गिरिजापति गौरि गिरापति।
पार्वतीमंगल—गावउँ गौरि गिरीस बिवाह सुहावन।
जानकीमंगल—सियरघुबीर बिवाह जथामति गावउँ।

भाषा भी वही पूरबी अवधी है।

इस ग्रंथ में रामचरितमानस की कथा से कुछ भेद है, जो नीचे लिखा जाता है।

(१) इसमें फुलवारीवर्णन न करके धनुषयज्ञ ही से वर्णन

आरंभ हुआ है। सीताराम का प्रथम परस्पर संदर्शन भी इसमें धनुषयज्ञ ही के समय लिखा गया है।

(२) रामायण में जनक के धिक्कारने पर लक्ष्मण का कोप और तब विश्वामित्र की आज्ञा पर रामचंद्र का धनुष तोड़ना लिखा है। इसमें सब राजाओं के हारने पर विश्वामित्र ने जनक से कहा है कि रामचंद्र से कहो। इस पर जनक ने इनकी सुकुमारता देख संदेह प्रकट किया। तब मुनि ने इनकी महिमा कही। फिर जनक के कहने पर राम ने धनुष तोड़ा।

(३) इसका १८ वाँ और रामायण का ३५७ वें दोहे का छंद एक ही है, कुछ अदल बदल मात्र है। ऐसे ही इसका अंतिम २४ वाँ छंद और रामायण बालकांड का अंतिम ३६५ वें दोहे का छंद है जिसमें एक पद तो एक ही है।

(४) रामायण में विवाह के पहले परशुराम आए हैं, इसमें विवाह-विदाई के पीछे जैसा कि वाल्मीकि रामायण में है।

'पार्वती मंगल' और 'जानकी मंगल' दोनों में तुलसी की वाक्य-रचना का वह गौरव विशेष रूप में दिखाई पड़ता है जो उन्हें हिंदी के और कवियों से अलग करके दिखाता है। इतने छोटे छंद में शब्द-विन्यास ऐसा गठा हुआ है कि शैथिल्य का कहीं नाम नहीं। एक शब्द भी ऐसा नहीं जो फालतू हो, प्रस्तुत भाव व्यंजना में जिसका प्रयोजन न हो, जो केवल छंद की पूर्त्ति के लिये रखा जान पड़ता हो।

रामाज्ञा—इस ग्रंथ को शकुन विचारने के लिये तुलसीदास जी ने बनाया है। इसमें ४६–४६ दोहों के सात अध्याय हैं। इन अध्यायों में श्रीरामचरित्र के बहाने शकुन का फल कहा है। अध्याय की कथा नीचे लिखे क्रम से है—

१ अध्याय—बालकांड की कथा।

२ अध्याय—अयोध्याकांड की कथा।

३ अध्याय—अरण्य और किष्किंधाकांड की कथा।

४ अध्याय—फिर से बालकांड की कथा, रामजन्म और विवाह ।

५ अध्याय—सुंदर और लंकाकांड की कथा ।

६ अध्याय—उत्तरकांड की कथा और अश्वमेधयज्ञ, सीता-अग्निप्रवेश आदि ।

७ अध्याय—स्फुट दोहे, व्यापार, संग्राम आदि विषय के प्रश्नों पर शकुनविचार ।

इस ग्रंथ को तुलसीदास जी ने शकुन विचारने ही की इच्छा से बनाया था, चाहे किसी के अनुरोध से बनाया हो या अपनी ही इच्छा से । इसके दोहों में बराबर शकुन विचारा गया है और अंत में शकुन विचारने की विधि भी दी है, यथा—

"सुदिन साँझ पोथी नेवति पूजि प्रभात सप्रेम ।
सगुन विचारब चारुमति सादर सत्य सनेम ॥
मुनि गनि, दिन गनि, धातु गनि दोहा देखि विचारि ।
देस, करम, करता, वचन सगुन समय अनुहारि" ॥

डाक्टर ग्रिअर्सन अपने लेख "नोट्स ऑन तुलसीदास" (Notes on Tulsi Das) में बाबू रामदीनसिंह के कथन पर इस ग्रंथ के बनने के विषय में यह कहानी लिखते हैं कि काशी में राजघाट के राजा गहरवार क्षत्रिय थे, जिनके वंशज अब माँडा और कंतित के राजा हैं। उनके कुमार शिकार खेलने वन में गए जहाँ उनके साथ के किसी आदमी को बाघ खा गया । राजा को समाचार मिला कि उन्हीं के राजकुमार मारे गए हैं । राजा ने घबराकर प्रह्लादघाट पर रहनेवाले प्रसिद्ध ज्योतिषी गंगाराम को बुलाकर प्रश्न किया । साथ ही यह भी कहा कि यदि आप की बात सच होगी तो एक लाख रुपया पारितोषिक मिलेगा; नहीं तो सिर काट लिया जायगा । गंगाराम एक दिन का समय लेकर घर आए और उदास बैठे रहे । तुलसीदास जी और इनमें बड़ा प्रेम था। ये दोनों मित्र नित्य संध्या को नाव पर बैठकर गंगापार जाते और भगवदुपासना में मग्न होते थे। उस

दिन भी तुलसीदास जी ने चलने को कहा, पर गंगाराम ने उदासी के मारे जाने से अनिच्छा प्रकट की। तुलसीदास जी ने जब कारण सुना तब कहा कि घबराओ नहीं; मैं इसका उपाय कर दूँगा। निदान उपासना से छुट्टी पाकर लौट आने पर तुलसीदास जी ने लिखने की सामग्री माँगी। पर कागज के सिवा और कुछ न मिला। तब उन्होंने एक सरकंडे का टुकड़ा लेकर कत्थे से लिखना आरम्भ किया और छः घण्टे में विना रुके हुए लिखकर इस रामाज्ञा को पूरा कर दिया। ज्योतिषी जी ने इसके अनुसार प्रश्न का फल विचार कर जाना कि राजकुमार कल संध्या को घड़ी दिन रहते कुशल-पूर्वक लौट आवेंगे। सवेरे जाकर उन्होंने राजा से कहा। राजा ने उन्हें संध्या तक कैद रक्खा। ज्योतिषी के बतलाए ठीक समय पर राजकुमार लौट आए और ज्योतिषी को लाख रुपए मिले। वे उस रुपए को तुलसीदास जी को भेंट करने लगे, परन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं किया। बहुत आग्रह करने पर बारह हज़ार रुपया लेकर उन्होंने हनुमान जी के बारह मन्दिर बनवा दिए जो अब तक हैं और जिनमें हनुमान जी की मूर्ति दक्षिण मुख किए स्थापित है।

हमारी समझ में इस आख्यायिका की जड़ प्रथम सर्ग का यह उनचासवाँ दोहा है—

"सगुन प्रथम ओनचास सुभ तुलसी अति अभिराम।
सब प्रसन्न सुर भूमिसुर गोगन गंगाराम॥"

परंतु यह कथा सत्य नहीं जँचती। उस समय राजघाट का क़िला ध्वंस हो चुका था। महमूद गज़नवी के सेनानायक सैयद सालार मसऊद (ग़ाजी मियाँ) की लड़ाई में यह क़िला टूट चुका था। मुसलमानी समय में यहाँ के चकलेदार मुसलमान होते थे। अंतिम चकलेदार मीर रुस्तमअली थे जो दशाश्वमेध के पास मीरघाट पर रहते थे और जिन को वर्तमान काशिराजवंश के संस्थापक मनसाराम ने भगाकर काशी का राज्य लिया था।

जो हो, पर इसमें संदेह नहीं कि यह ग्रंथ प्रह्लादघाट पर एक ब्राह्मण* के यहाँ था और इसकी नक़ल प्रसिद्ध रामायणी लाला छक्कनलाल मिरज़ापुरवाले ने संवत् १८८४ में की थी। मूल ग्रंथ संवत् १६५५ जेठ शु० १० रविवार का लिखा हुआ था और कत्थे के ऐसे रंग से लिखा था। इसको और भी बहुत से लोगों ने देखा था, परंतु यह दुर्भाग्यवश चोरी हो गया।

इसके सैंकड़ों दोहे तुलसीदास जी के दूसरे ग्रंथों में भी मिलते हैं, विशेष कर दोहावली में। जैसे इसके सातवें अध्याय का २१ वाँ दोहा "रामबाम दिसि जानकी लखन दाहिनी ओर। ध्यान सकल कल्यान-मय सुरतरु तुलसी तोर" वैराग्यसंदीपनी और दोहावली दोनों का पहला दोहा है। ऐसे दोहों की एक सूची डाक्टर ग्रिअर्सन ने अपने ऊपर लिखे लेख में दी है।

दोहावली—इस ग्रंथ में ५७३ दोहों का संग्रह है। दोहे भगवन्नाम-माहात्म्य, तत्वज्ञान, राज-नीति, कलियुग की दशा, धर्मोपदेश आदि फुटकर विषयों पर हैं। इनमें से लगभग आधे दोहे रामायण, रामाज्ञा, तुलसी-सतसई और वैराग्यसंदीपनी में पाए जाते हैं। अंतिम ५७३वाँ दोहा "मनि मानिक महँगे किये सहँगो तृन जल नाज। तुलसी एते जानिये राम गरीबनेवाज॥" खानखाना रहीम का बनाया कहा जाता है। इसमें संदेह नहीं कि यह ग्रंथ भिन्न भिन्न विषयों पर कहे हुए दोहों का संग्रह है। यह संग्रह चाहे तुलसीदास जी ने स्वयं किया हो अथवा उनके पीछे किसी दूसरे ने। इन दोहों से पता लगता है कि गोस्वामीजी संसार की भिन्न भिन्न बातों को किस दृष्टि से देखते

---

*उन्हीं के यहाँ तुलसीदास की एक बहुत पुरानी कलमी तसवीर भी थी जो जहाँगीर बादशाह की उतरवाई कही जाती है। आजकल जिन महाशय के अधिकार में प्रह्लादघाट का तुलसी स्थान है, वे बड़े उत्साही हैं। उनका नाम पं० रणछोड़ व्यास है और वे ज्योतिषी गंगारामजी के उत्तराधिक भी हैं। उन्होंने इस चित्र के आधार पर तुलसीदास की एक संगमर्मर की मूर्त्ति बनवाकर स्थापित की है।

थे। गूढ़ से गूढ़ और साधारण से साधारण विषयों पर कुछ मत प्रकट करनेवाले दोहे मिलते हैं। चातक की अन्योक्तियों के द्वारा प्रेमतत्त्व का जो विशुद्ध निरूपण गोस्वामी जी ने किया है, वह प्रेमियों और भक्तों का चरम लक्ष्य है। देश और समाज की गिरती हुई दशा पर जो खिन्नता उन्हें होती थी, वह उन दोहों में भरी है—

"अशुभ भेष भूषन धरे भच्छाभच्छ जे खाहिं।
ते जोगी ते सिद्ध नर पूज्य ते कलियुग माहिं ॥५५०॥
बादहिं सूद्र द्विजन सन हम तुम्हतें कुछ घाटि।
जानहिं ब्रह्म सो विप्रवर आँखि देखावहिं डाँटि ॥५५३॥
साखी सबदी दोहरा कहि कहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि निंदहिं वेद पुरान* ॥५५४॥
श्रुति सम्मत हरि भक्तिपथ सञ्जुत बिरति बिबेक।
तेहि परिहरहिं बिमोह बस कल्पहिं पंथ अनेक ॥५५५॥
गोंड गँवार नृपाल महि जवन महा महिपाल।
साम न दान न भेद कलि केवल दंड कराल ॥५५८॥
तुलसी पावस के समय धरी कोकिलन मौन।
अब तौ दादुर बोलिहैं हमहिं पूछिहै कौन ॥५६४॥

संस्कृत छोड़कर तुलसीदास जी भाषा में क्यों लिखने गए, इसका उत्तर यह दोहा है—

का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहियतु साँच।
काम जो आवै कामरी का लै करै कुमाच ॥

नित्य का व्यवहार तो हमारा भाषा से चलता है, उसकी उपेक्षा हम क्यों करें? दोहावली के भीतर बहुत से गूढ़ आशय के दोहे भी हैं।

कवित्त रामायण वा कवितावली—यह ग्रंथ कवित्त, घनाक्षरी, सवैया, और छप्पय छंदों में है। भाषा इसकी शुद्ध ब्रज है।

---

* यह कटाक्ष कबीर, दादू आदि पर जान पड़ता है।

डाक्टर ग्रिअर्सन ने न जाने किस आधार पर इसकी भाषा अवधी कही है। "गोरो गरूर गुमान भरो कहौ कौसिक छोटो सो ढोटो है काको"। इससे बढ़कर साफ ब्रजभाषा और क्या होगी? कवित्त और सवैया ब्रजभाषा के ख़ास छंद हैं। कवितावली में क्रम से रामचरित का वर्णन है। पर यह भी एक समय में नहीं बनी। चाहे गोसाईं जी ने आप इसका संग्रह किया हो अथवा उनके पीछे किसी दूसरे ने किया हो। गोस्वामी जी की यह रचना गंग आदि दरबारी कवियों की शैली पर है। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस मैदान में भी गोस्वामी जी पिछले और सब कवियों के अगुआ हुए। घनानंद, भूषण, पद्माकर इत्यादि सब ने मानों उन्हीं से शक्ति प्राप्त की। कहीं कहीं तो वे पूरे भाट बन गए हैं जैसे—रंक के निवाज रघुराज राजा राजनि के, उमरि दराज महाराज तेरी चाहिए। कवितावली में भी कांडक्रम है—

१—बालकांड–२१ कवित्त-श्रीरामचंद्रजी की बाललीला से धनुर्भंग तक।

२—अयोध्याकांड–२८ कवित्त—वनवास।

३—अरण्यकाण्ड–१ कवित्त—हरिण के पीछे श्रीरामचंद्र जी का जाना।

४—किष्किंधाकांड–१ कवित्त—हनुमानजी का समुद्र लाँघना।

५—सुंदरकांड–३२ कवित्त—लंका में हनुमानजी की वीरता तथा लंकादहन, सीताजी की सुधि लेकर हनुमानजी का श्रीरामचंद्रजी के पास लौट आना।

६—लंकाकांड–५८ कवित्त—सेतुबंध, अंगदसंवाद, युद्ध, लक्ष्मण की शक्ति, रावणवध।

७—उत्तरकांड–२२५ कवित्त–पहले श्रीरामचंद्रजी की वंदना, फिर हनुमान वंदना, गोपी-उद्धव संवाद, प्रह्लादकथा, महादेवस्तुति, काशीस्तुति, काशी की दुर्गति, निज दशा तथा हनुमानबाहुक आदि फुटकर कविता।

उत्तरकांड में प्रायः ऐसे कवित्त हैं जिनसे कुछ संबंध देशदशा तथा गुसाईं जी की जीवनी से है, इसलिये हम कुछ विस्तार के साथ इसका वर्णन करते हैं।

(१) १६८ कवित्त से जान पड़ता है कि माता-पिता बचपन ही में मर गए थे या उन्होंने इन्हें छोड़ दिया था। (मातु-पिता जग जाइ तज्यो विधि हू न लिख्यो कछु भाल भलाई) इसका प्रमाण रामायण में भी मिलता है कि बचपन ही से गुरु के साथ ये घूमते थे। (मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत। समुझी नहिं तसि बालतन तब अति रहेउँ अचेत॥)

(२) २०३ घनाक्षरी से जान पड़ता है कि पहले इनका कुछ मान नहीं था, पर पीछे पंचों में बड़ा मान हुआ–(छार तें सँवार कै पहार हू तें भारी कियो गारो भयो पंच में पुनीत पच्छ पाइ कै। हौं तो जैसो तब तैसो अब अधमाई कै कै पेट भरौं राम रावरोई गुन गाइ कै) इसी भाव के और भी बहुतेरे कवित्त हैं।

(३) २१४, २१५ कवित्त में स्पष्ट लिखा है कि मेरा जन्म मंगन के घर में हुआ और सभी जाति के टुकड़े खाकर मैं पला, पर रामनाममाहात्म्य से मेरा मान मुनियों का सा है—(जाति के सुजाति के कुजाति के पेटागी बस खाए टूक सब के बिदित बात दुनी सो। ......रामनाम को प्रभाउ पाउँ-महिमा-प्रताप तुलसी को जग मानियत महामुनी सो......२१४॥ जायो कुल मंगन बधावनो बजायो सुनि भयो परिताप पाप जननी जनक को। बारे तें ललात बिललात द्वारे-द्वारे दीन जानत हौं चारि फल चारिही चनक को॥ तुलसी सो साहिब समर्थ को सुसेवकहि सुनत सिहात सोच विधि हू गनक को। नाम राम रावरो सयानो कैधौं बावरो जो करत गिरी तें गरु तिन तें तनक को॥ २१५॥)

(४) अनेक कवित्तों में कलिकाल की करालता, अकाल का कोप और राजा का अन्याय वर्णन किया गया है। २३६ कवित्त में

देशदशा का पूरा वर्णन है—(खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि, वनिक को बनिज न चाकर को चाकरी। जीविका-विहीन लोग सीद्यमान सोच बस कहैं एक एकनि सों "कहाँ जाई का करी ?" ॥ वेद हूँ पुरान कही लोक हू विलोकियतु साँकरे सब को राम रावरे कृपा करी। दारिद दसानन दबाई दुनी दीनबंधु दुरित दहत देखि तुलसी हहा करी ॥ २३६ ॥)

(५) २४४ कवित्त में कलियुग का प्रभाव अपने ऊपर न व्यापने की बात लिखी है—(भागीरथी जलपान करौं अरु नाम है राम को लेत निते हौं।)

(६) २४८, २४६, २५० कवित्तों में उन्होंने लिखा है कि अब जाति पाँति की कुछ परवा नहीं है, केवल राम का भरोसा है। कोई हमें साधु कहता है, कोई दगाबाज़। जिसके मन में जो आवे सो कहे, हमें किसी से कुछ काम नहीं—(धूत कहो अवधूत कहो रजपूत कहो जोलहा कहो कोऊ। काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब काहू की जाति बिगार न सोऊ ॥ तुलसी सरनाम गुलाम है राम को जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ। माँगि के खैबो मसीद को सोइबो लेनो है एक न देनो है दोऊ ॥२४८ ॥)

(७) २६६ से २७२ तक प्रह्लादचरित्र है। २७० में लिखा है कि प्रह्लादजी के कहने पर खंभ फाड़कर भगवान् निकले, तभी से लोग पत्थर अर्थात् प्रतिमा की पूजा करने लगे (प्रीति प्रतीति बढ़ी तुलसी तब तें सब पाहन पूजन लागे ॥ २७० ॥)

(८) २७२ और २७३—"होई भले को भलाई भलाई" और २७४ "गुमान गोबिंदहिं भावत नाहीं" इन समस्याओं की पूर्त्ति है।

(९) २८५ से २७७—उद्धव-गोपी-संवाद, भ्रमर-गीत।

(१०) २८० से २८५ तक चित्रकूटवर्णन है, जिसमें सीतावट, रामवट और हनुमानधारा का वर्णन किया है। श्रीवाल्मीकिजी के स्थान पर अब तक सीतावट स्थित है।

(११) २८६—प्रयागराज का वर्णन।

(१२) २८७ से २८६ तक श्रीगंगाजी की स्तुति है।

(१३) २६०—अन्नपूर्णा जी की स्तुति।

(१४) २६१ से ३०५ तक छप्पय, कवित्त और सवैया श्रीशिव जी की वंदना में।

(१५) ३०७ कवित्त में स्पष्ट लिखा है कि मैं काशी में पड़ा हूँ, श्रीगंगा जी का सेवन करता हूँ, माँगकर पेट भरता हूँ, भलाई तो भाग्य में लिखी ही नहीं है, पर बुराई भी किसी की नहीं करता। इतने पर भी लोग बुराई करते हैं तो मैं क्या करूँ? आप के दरबार में अर्ज कर के छुट्टी पाता हूँ। यदि पीछे से आपको उलहना मिले तो मुझे उलहना न दीजिएगा। (देवसरि सेवौ वामदेव गाँउ रावरे हीं नाम राम ही को माँगि उदर भरत हौं। दीवे जोग तुलसी न लेत काहू को कछुक लिखी न भलाई भाल पोच न करत हौं॥ एतहू पर कोऊ जो रावरो जोर करै ताको जोर देव दीन द्वारे गुदरत हौं। पाइ कै ओराहनो ओराहनो न दीजै मोहि कलिकाल काशीनाथ कहे निवरत हौं॥)

बैजनाथदास ने लिखा है—पंडितों के उपद्रव से काशी छोड़ने के समय यह कवित्त गोसाईं जी विश्वनाथ जी के मंदिर में लिख कर चित्रकूट चले गए। पीछे विश्वनाथ जी का कोप हुआ, तब सब जाकर उन्हें फिर बुला लाए।

(१६) ३०८ और ३०६ में कहा है कि मैं रामचंद्रजी का सेवक हूँ और काशीवास की इच्छा से यहाँ आ पड़ा हूँ, पर कुपीर से बड़ा दुःखी हूँ। यदि मारना है तो मार ही डालिए, जिसमें काशीवास का फल हो! यदि जिलाइए तो नीरोग शरीर रखिए। (चेरो रामराय को सुजस सुनि तेरो हर पाइ तर आइ रह्यो सुरसरि तीर हौं। वामदेव राम को सुभाव शील जानि निज नातो नेह जानियत रघुबीर भीर हौं॥ अधिभूत वेदन विषम होत भूतनाथ तुलसी बिकल पाहि पचत कुपीर हौं। मारिए तो अनायास काशीवास

खास फल, ज्याइए तो कृपाकरि निरुज शरीर हौं ॥३०८॥ जीबै की न लालसा दयालु महादेव मोहिं मालुम है तोहि मरिबेई को रहतु हौं। कामरिपु राम के गुलामनि को कामतरु अवलम्ब जगदंब सहित चहतु हौं ॥ रोग भयो भूत को, कुसूत भयो तुलसी को भूत-नाथ पाहि पदपंकज गहतु हौं। ज्याइये तो जानकी जीवन-जन जानि जिय मारिए तो माँगि मीचु सूधियै कहतु हौं ॥३०९॥)

(१७) ३११—३१६—काशी की दुर्गति पर विश्वनाथजी, भगवती काली, भैरवनाथ आदि की स्तुति की है। यह समय संवत् १६५५ से १६८५ के भीतर का है, क्योंकि इस समय ३१२ कवित्त के अनु-सार रुद्रबीसी थी (बीसी विश्वनाथकी विपाद बड़ो बारानसी बूझिए न ऐसी गति शंकर सहर की)। सं० १६५५ के लगभग से काशी में मुसलमानों का विशेष उपद्रव मचा था और इसी के पीछे यहाँ महामारी भी (प्लेग) फूटी थी।

(१८) ३१७, ३१८—महामारी का महाकोप था। राजा से रंक तक सब दुःखी थे। हनुमान जी से प्रार्थना है कि काशीवासियों को इस विपत्ति से बचाओ। इसमें स्पष्ट प्लेग का रूप वर्णन है कि लोग उछलते हैं, तड़पते हैं और मर जाते हैं; जल और थल दोनों मृत्युमय हो रहा है। इस कवित्त से मुसलमानों की अनीति, बाद-शाह की क्रूरता और महामारी सभी उपद्रवों का होना उस समय स्पष्ट है। यह कवित्त अन्यत्र उद्धृत किया गया है।

(१९) ३२१ कवित्त में जान पड़ता है कि किसी अन्यायी हाकिम को भी लक्ष्य कर के कहा है कि काशी में किसी की अति नहीं चलती, आज चाहे कल या परसों इसका फल पाओगे। (मारग मारि महीसुर मारि कुमारग कोटिक कै धन लीयो। शंकर कोप सो पाप को दाम परीच्छित जाहिंगो जारि के हीयो ॥ कासी में संकट जेते भए ते गे पाइ अघाइ कै आपुनो कीयो। आजु की कालि परों की नरौं जड़ जाहिंगे चाटि देवारी को दीयो ॥३२१॥

(२०) नीचे लिखे हुए कवित्त के आगे से हनुमानबाहुक आरंभ होता है। यह कवित्त जान पड़ता है कि अंत समय के निकट का है। (कुंकुम रंग सुअंग जितो मुखचंद सो चंदन होड परी है। बोलत बोल समृद्ध चवै अवलोकत सोच विषाद हरी है॥ गौरी कि गंग विहंगिनि वेष कि मंजुल मूरति मोद भरी है॥ पेषु सपेम पयान समै सब सोच-बिमोचन छेमकरी है॥३२२॥

(२१) हनुमानबाहुक—३२२ से ३२८ तक हनुमानजी की वंदना है। ३२९—३० में काशी की बड़ाई करके उस पर भी कलियुग के ज़ोर का वर्णन किया है। (विरचि विरंचि की बसति विश्वनाथ की जो प्रान हूँ ते प्यारी पुरी केवल कृपाल की। जोतिरूप लिंगमई अगनित लिंगमई मोच्छ-वितरनि विदरनि जग जाल की॥ देवी देव देवसरि सिद्ध मुनि वरवास लोपति विलोकत कुलिपि भोंड़े भाल की। हाहा करै तुलसी दयानिधान राम ऐसी कासी की कदर्थना कराल कलि काल की॥३३०॥)

(२२) ह० बा० ३३१ में भी कलियुग का वर्णन करके लिखा है कि शिवजी का क्रोध तो महामारी ही से जान पड़ता है और रामचंद्र जी का कोप दुनिया के दरिद्र होने से—(शंकर सरोष महामारि तें जानियत साहिब सरोष दुनी दिन दिन दारिदी)॥

(२३) ह० बा० ३४१—लोगों की बुराई करने पर हनुमान जी से पूछते हैं कि हमने क्या अपराध किया है, बतला दीजिए जिससे आगे के लिये तो होशियार हो जायँ (जान सिरोमनि हौ हनुमान! सदा जन के हिय बास तिहारो। ढारो बिगारो मैं काको कहा? केहि कारन खीझत? हौं तो तिहारो॥ साहेब सेवक नाते ते हातो किया तो तहाँ तुलसी को न चारो। दोष सुनाये तें आगेहु को हुसियार ह्वैहों मन तो हिए हारो॥३४१॥)

(२४) ह० बा० ३४२—दुःख देनेवाले खलों का दमन करने की प्रार्थना की है।

(२५) ह० बा० ३४५—बाँह की पीड़ा छुड़ाने के लिये प्रार्थना की है। यह कवित्त अन्यत्र दिया है।

(२६) ह० बा० ३४६—इसमें भी बाँह की पीड़ारूपी राहु को पछाड़कर मारने की प्रार्थना है। पहले पद में लिखा है कि हमें लड़का जानकर बचपन ही से दया की और निरुपाधि रक्खा—(बालक बिलोकि बलि बारे तें आपनो कियो दीनबंधु दया कीन्ही निरुपाधि न्यारिये)।

(२७) ह० बा० ३४७, ३४८—बाँह की पीड़ा का वर्णन।

(२८) ह० बा० ३४६—बाँह की जड़ में दर्द होने का वर्णन (बाहु तरुमूल बाहु सूल कपि कच्छु बेलि उपजी सकेलि कपि केलि ही उपारिए)।

(२६) ह० बा० ३५०—बाँह की पीड़ा पूतना है, यह तुम्हारे ही मारे मरेगी।

(३०) ह० बा० ३५१—पीड़ा की दारुणता दिखलाई है।

(३१) ३५२—बाँह की पीर की पुकार।

(३२) ह० बा० ३५३—इसमें कहा है कि मुझे बचपन से घर घर के टुकड़े खिलाकर जिलाया और सदा मेरी सँभाल और रक्षा करते आए, पर आज यह क्या खेल है? "बालकों का खेल और चिड़िया की मौत"। (टूकनि को घर घर डोलत कंगाल बोलि बाल ज्यों कृपाल नतपाल पालि पोसो है। कीन्हों है सँभार सार अंजनी-कुमार बीर अपनो बिसारिहैं न मेरे हू भरोसो है। इतनो परेखो समरथ सब भाँति आजु कपिराज साँची कहौं को तिलोक तोसो है। साँसति सहत दास कीजै पेखि परिहास, चीरी को मरन खेल बालकनि को सो है ॥ ४५३ ॥)

(३३) ह० बा० ३५४ में लिखा है कि बहुत कुछ दवा और टोटके किए, यन्त्र-मन्त्र किए, देवी-देवता मनाए, पर दर्द बढ़ता ही जाता है।

(३४) ह० बा० ३५५ से ३५७ तक—वैसी ही प्रार्थना।

(३५) ह० बा० ३५८—शिवजी से प्रार्थना की है कि आप ही के टुकड़े से पला हूँ, चूक होने पर भी मुझे न छोड़िए।

(३६) ह० बा० ३५९—इसमें हनुमान जी की प्रशंसा की है कि मैं मर ही चुका था, पर तुमने रख लिया।

(३७) ह० बा० ३६०—इसमें लिखा है कि फिर दर्द बढ़ा। श्रीरामचंद्र जी से प्रार्थना करते हैं कि दर्द मिटाइए; बल्कि लूला ही आप के दरबार में पड़ा रहूँगा। (बाँह की वेदन बाँह-पगार पुकारत आरत आनँद भूलो। श्रीरघुबीर निवारिये पीर रहौं दरबार पर्यो लटि लूलो॥)

(३८) ह० बा० ३६१—में लिखा है कि रात दिन का दर्द सहा नहीं जाता, उसी बाँह को इसने पकड़ा है जिसको हनुमान जी ने पकड़ा था। (काल की करालता करम कठिनाई कैधौं पाप के प्रभाव की सुभाय वाय बावरे। बेदन कुभाँति सो सही न जाति राति दिन सोई बाँह गही जो गही समीर-डावरे॥ लायो तरु तुलसी तिहारो सो निहारि वारि सींचिए मलीन भो तयो है तिहूँ तावरे। भूतनि को आपनो पराये को कृपानिधान जानियत सब ही की रीति राम रावरे॥ ३६१॥)

(३९) ह० बा० ३६२ में लिखा है कि सारे शरीर में दर्द फैल गया, ज्वर बढ़ा, बुढ़ापे की निर्बलता, ग्रहों आदि का जोर और काल का जोर मुझ पर हो रहा है।

(४०) ह० बा० ३६३—श्री रामलक्ष्मण जी से प्रार्थना।

(४१) ह० बा० ३६४—इसमें लिखते हैं कि जब सब तरह से मैं धनहीन, विषय-लीन था, तब आपने अपनाया। जब मान बढ़ा तब अभिमान आ गया, इसीसे जान पड़ता है कि बरतोर के बहाने राम राजा का नमक रोएँ रोएँ से फूट फूटकर निकल रहा है। जान पड़ता है इस समय सारे शरीर में फोड़े या घाव हो गए थे।

(आसन-बसन-हीन विषय विषाद लीन देखि दीन दूबरो करै न हाय हाय को। तुलसी अनाथ सो सनाथ कियो रघुनाथ दियो फल सील सिंधु आपने सुभाय को॥ नीच एहि बीच पति पाइ भरु होइगो बिहाइ प्रभु भजन बचन मन काय को। तातें तन पेखियत घोर बरतोर मिसु फूटि फूटि निकसत है लोन राम राय को॥ ३६४॥)

(४२) ह० बा० ३६५—यह अन्यत्र दिया है। इससे स्पष्ट है कि ये काशी में मरे।

(४३) ह० बा० ३६६—अत्यन्त घबरा गए हैं, तब इस कवित्त में हनुमान जी, रामचंद्र जी, महादेव जी और भैरव जी की वन्दना करते हैं।

(४४) ह० बा० ३६७—यह अंतिम कवित्त है। इसमें सब तरह थककर अंत में कहते हैं कि अब यह समझकर कि अपने कर्मों का फल मिल रहा है, हम भी चुप हो जाते हैं।

गीतावली—यह ग्रंथ राग-रागिनियों में है। इसे कवि ने कथा-क्रम से बनाया है। इसकी रचना से यह भी विदित होता है कि यह रामायण बनने के पीछे बना है। भाषा इसकी ब्रज है।

इसकी रचना सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों की माधुर्य्य-प्रधान गीत-शैली पर है और उन्हीं के समान सरस और मनोहर है। भाषा की स्वाभाविक स्वच्छता की विशेषता ऊपर से है। कोमल और करुणवृत्तियों की व्यंजना अत्यन्त हृदय-ग्राहिणी है। आदि में बाललीला का और अंत में राम-राज्य की सुख-समृद्धि, क्रीड़ा और विहार का विस्तार इसमें अधिक किया गया है। बाल-लीला के प्रसंग में एक बात विलक्षण मिलती है। इसके कई पद ज्यों के त्यों सूर सागर में भी मिलते हैं—केवल 'राम श्याम' का भेद है। नीचे पद दिए जाते हैं—

(१) आँगन खेलत घुटुरुवन धाए।
नील जलद तनु सुभग स्याम मुख निरखि जननि दोउ निकट बुलाए।

बँधुक सुमन-अरुन पद-पंकज अंकुस प्रमुख चिह्न बनि आए ॥
नूपुर कलरव मनो सुत-हंसन रचे नीड़ दै बाँह बसाए ।
कटि किंकिनि, बरहार ग्रीवदर रुचिर बाहु-भूषन पहिराए ॥
उर श्रीवत्स मनोहर केहरि-नखन-मध्य मनिगन बहु लाए ।
सुभग चिबुक द्विज अधर नासिका श्रवण कपोल मोहि सुठि भाए ॥
भुव सुंदर करुनारस-पूरन, लोचन मनहुँ जुगल जल जाए ।
भाल बिसाल ललित लटकन मनि बाल दसा के चिकुर सुहाए ॥
मानौ गुरु सनि कुज आगे करि ससिहि मिलन तम के गन आए ।
उपमा एक अभूत भई तब जब जननी पटपीत ओढ़ाए ॥
नील जलद पर उडुगन निरखत तजि सुभाव मानो तड़ित छपाए ।
अंग अंग प्रति मार-निकर मिलि छवि-समूह लै लै जनु छाए ॥
सूरदास सो क्यों करि बरनै जो छवि निगम नेति करि गाए ॥

यह पद गीतावली में भी ज्यों का त्यों है। केवल अंतिम चरण इस प्रकार है—"तुलसीदास रघुनाथ रूप गुन तौ कहौं जो बिधि होहिं बनाए।"

(२) हरि जू की बाल-छवि कहौं बरनि ।

सकल सुख की सीवँ कोटि मनोज-सोभा-हरनि ।
भुज भुजंग सरोज-नयननि बदनबिधु जित लरनि ॥
रहे बिवरन, सलिल, नभ उपमा अपर दुति-डरनि ॥
मंजु मेचक मृदुल तनु अनुहरत भूषन-भरनि ।
मनहुँ सुभग सिँगार-सिसु-तरु फर्‌यो अद्भुत फरनि ॥
चलत पद-प्रतिबिंब मनि-आँगन घुटुरुवन करनि ।
जलज संपुट सुभग छबि भरि लेति उर जनि धरनि ॥
पुन्यफल अनुभवति सुतहि बिलोकि कै नँदघरनि ।
सूर प्रभु की बसी उर किलकनि ललित लरखरनि ॥

यह पद भी गीतावली में ज्यों का त्यों है, केवल 'हरिजूकी'

'नँदघरनि' और 'सूर' के स्थान पर क्रमशः 'रघुवर' 'दसरथ घरनि' और 'तुलसी' शब्द हैं।

(३) आँगन खेलैं नँद के नंद। जदुकुल कुमुद सुखद चारु चंद॥
संग संग बल मोहन सोहैं। सिसु-भूषन सबको मन मोहैं॥
तन दुति मोर चंद जिमि झलकै। उमगि उमगि अंग अंग छवि छलकै॥
कटि किंकिनि, पग नूपुर बाजैं। पंकज पानि पहुँचियाँ राजैं॥
कठुला कंठ, बघनहा नीके। नयन सरोज मयन-सरसी के॥
लटकन ललित ललाट लटूरी। दमकति द्वै द्वै दँतियाँ रूरी॥
मुनि-मन हरत मंजु मसि बिंदा। ललित वदन बलि बाल गोविंदा॥
कुलही चित्र विचित्र झगूली। निरखि जसोदा रोहिनी फूली॥
महि मनि-खंभ डिंभ डग डोलैं। कलबल बचन तोतरे बोलैं॥
निरखत छवि झाँकत प्रतिबिंबै। देत परम सुख पितु अरु अंबै॥
ब्रज जन देखत हिय हुलसाने। सूर श्याम महिमा को जानै॥

यह पद भी गीतावली में है, केवल 'नंद के नंद' के स्थान पर "आनंद कंद" 'निरखि जसोदा-रोहिनि फूली' के स्थान पर "निरखत मातु मुदित मन फूली" है और अंतिम चरण इस प्रकार है—"सुमिरत सुखमा हिय हुलसी है। गावत प्रेम पुलकि तुलसी है।"

नहीं कह सकते कि यह रामभक्तों की कृपा है या गोस्वामी जी को ही ये पद पसंद आए और उन्होंने गीतावली में रख लिए। पहली बात की ही संभावना अधिक जान पड़ती है क्योंकि गोस्वामी जी को ऐसा करने की क्या पड़ी थी।

गीतावली में भी सात काण्ड हैं। यथाः—

१—बालकाण्ड—११० पद—मङ्गलाचरण के पद, रामजन्म, बाल लीला और छठी आदि सब संस्कार, विश्वामित्रजी का आना और रामलक्ष्मण को ले जाना, यज्ञ की रक्षा, अहल्या-उद्धार, जनकपुर-गमन, धनुषयज्ञ, विवाह।

२—अयोध्याकाण्ड—८९ पद—दशरथ का रामचंद्र को युवराज

पद देने का विचार करना, कैकेयी का वर माँगना, राम, लक्ष्मण और सीता का वन-गमन, दशरथ का विलाप, ग्राम-वासियों का राम-जानकी की शोभा का वर्णन, चित्रकूट-निवास, चित्रकूट-वर्णन, कौशल्या का विलाप, दशरथ का प्राण-त्याग, भरत का आना और कैकेयी को धिक्कारना, भरत का वन में राम के पास जाना और लौटने की विनती करना, श्रीरामचंद्र जी का भरत को समझाकर विदा करना, भरत का आकर नंदिग्राम में तापस-वेष से रहना, कौशल्या का विलाप, अयोध्या में निषाद की चिट्ठी आना कि रामचंद्रजी विराध को मारकर चित्रकूट से चलकर रेवाविन्ध्य के बीच में जा बसे हैं ।

३—अरण्यकाण्ड—१७ पद—पञ्चवटी में निवास, सोने के मृग के पीछे श्रीरामचंद्र जी का जाना, रावण का आना और सीता-हरण, जटायु-रावण-युद्ध, राम-लक्ष्मण-विलाप, सीता को ढूँढ़ना, जटायु से भेंट होना, जटायु की अन्त्येष्टि क्रिया, शबरी-मङ्गल ।

४—किष्किन्धाकाण्ड—२ पद—किष्किन्धा में सीताजी के गहनों को पाकर श्रीरामचंद्रजी का विलाप, (बालि सुग्रीव की लड़ाई आदि की कथा छोड़ दी गई है) वानरों का सीता की खोज में निकलना ।

५—सुंदरकाण्ड—५१ पद—हनुमानजी का समुद्र लाँघना, सीता जी को अशोक-वाटिका में रामचंद्रजी की अँगूठी देना, जानकी-हनुमान-संवाद, रावण-हनुमान-संवाद, लङ्कादहन, जानकी से विदा हो रामचंद्रजी के पास आना, सब समाचार कहना, लङ्का की यात्रा, सेतु बाँधकर समुद्र पार करना, मंदोदरी और विभीषण का रावण को समझाना, रावण का तिरस्कार करना, विभीषण का रामचंद्र जी के पास आना और आदर पाना, सीता का विलाप और त्रिजटा का आश्वासन देना ।

६—लङ्काकाण्ड—२३ पद—मंदोदरी का फिर समझाना, अङ्गद-संवाद, लक्ष्मण-शक्ति, हनुमान का सञ्जीवनी बूटी लाना, लक्ष्मण का

अच्छा होना, कौशल्या का विलाप और पथिकों से समाचार पूछना ("बैठी सगुन मनावति माता।" यह पद सूरदासजी के रामचरित्र वर्णन के इसी पद से बहुत मिलता है।) एक दूत का आना और रामचंद्रजी के रावण आदि को मारकर लौटने का समाचार देना, (लड़ाई का प्रसङ्ग छोड़ दिया है, अत्यंत संक्षेप में एक ही पद में दूत के द्वारा कुछ समाचार कहला दिया है) रामचंद्रजी का अयोध्या में लौटकर आना और अयोध्या मे आनन्द बधाई होना।

७—उत्तरकाण्ड-३८ पद-रामराज्य, रामचंद्र की शोभा का वर्णन, रामराज्य की बड़ाई, दिनचर्या, हिंडोला (श्रीकृष्ण लीला का अनुकरण), होली (श्रीकृष्णलीला के समान), राजनीति, लोकनिंदा सुनकर जानकी को वाल्मीकि के आश्रम में छोड़ना, वहीं लव कुश का जन्म, रामचंद्रजी का यश-वर्णन।

कृष्ण गीतावली—इस छोटी सी पुस्तक में श्रीकृष्ण-चरित्र का वर्णन है। सब ६१ पद हैं। ब्रज के कवियों की सी कविता है, कदाचित् यह ब्रज में ही बनाया गया हो। कृष्णलीला पूरी पूरी नहीं है, अपनी इच्छा के अनुसार किसी किसी लीला का वर्णन कवि ने किया है। पहले बालचरित्र है; फिर यथाक्रम गोपी-उलाहना, ऊखल से बाँधना, इंद्रकोप, गोवर्धन-धारण, छाकलीला, शोभा-वर्णन, गोपिकाप्रीति, मथुरागमन, गोपिका-विलाप, ऊद्धवगोपी संवाद, भ्रमरगीत और अंत में द्रौपदी के वस्त्र बढ़ाने की कथा है।

यह ग्रंथ क्रम से नहीं बना जान पड़ता। समय समय पर जो कविताएँ कृष्ण-चरित्र की बनी हैं, उन्हीं का यह संग्रह है। इसमें बहुत से पद सूरसागर के हैं—जैसे, नं० ३३, ३४, ४१, ४२, ४३,४४।

रामचरित-मानस वा रामायण—इस विख्यात ग्रन्थ को गोसाईं जी ने संवत् १६३१ चैत्र शुक्ल ९ (रामनवमी) मङ्गलवार को आरम्भ किया—

संवत सोरह सै इकतीसा। करउँ कथा हरि-पद धरि सीसा॥

नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा ॥

* * * * *

बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम-मद-दंभा ॥

यह ग्रन्थ गोसाईं जी का सर्वोत्तम ग्रन्थ है और इसे बनाने का उन्होंने छोटी ही अवस्था में संकल्प किया था। वे स्वयं लिखते हैं—

जागवलिक जो कथा सोहाई। भरद्वाज मुनिवरहिं सुनाई।

* * * * *

संभु कीन्ह यह चरित सोहावा। बहुरि कृपा करि उमहिं सुनावा ॥
सोइ सिव काग भुसुंडिहि दीन्हा। रामभगत अधिकारी चीन्हा ॥
तेहि सन जागवलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा ॥

* * * * *

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत ॥

* * * * *

तदपि कही गुरु बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा ॥

(उसी समय यह विचार किया)

भाषाबद्ध करबि मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई ॥ ३१ ॥

इससे जान पड़ता है कि गोस्वामी जी की बचपन ही से इस कथा को लिखने की इच्छा थी। नीचे लिखे दोहों से यह जान पड़ता है कि या तो इसको इन्होंने छोटी ही अवस्था में बनाया था अथवा अपनी नम्रता दिखाने के लिये उन्होंने ऐसा कहा है—

संत सरल चित जगतहित जानि सुभाउ सनेहु।
बालबिनय सुनि करि कृपा राम-चरन रति देहु ॥४॥
कबि कोबिद रघुबर चरित मानस मंजु मराल।
बाल बिनय सुनि सुरुचि लखि मो पर होहु कृपाल ॥१४॥

यह पता नहीं लगता कि इस ग्रंथ को गोस्वामी जी ने कब और कहाँ पूरा किया, क्योंकि अंत में समय और स्थान नहीं लिखा है,

केवल महिमा लिखकर उसे समाप्त कर दिया है। अनुमान से लोग यह कहते हैं कि गोस्वामी जी ने इसे अरण्यकांड तक अयोध्या में और किष्किंधा से उत्तर तक काशी में बनाया; क्योंकि और कहीं काशी का वर्णन न करके किष्किंधाकांड के मंगलाचरण में लिखा है—

मुक्तिजन्म महि जानि ग्यानखानि अघहानि-कर।
जहँ बस संभु भवानि सो कासी सेइअ कस न॥

इस ग्रंथ का नाम गोसाईं जी ने राम-चरित-मानस रक्खा।

यद्यपि इस चरित का मूल आधार उन्होंने अधिकतर वाल्मीकि की कथा को ही रखा, पर भक्ति-प्रधान रूप रखने के कारण उन्होंने अध्यात्मरामायण, काकभुसुंडि रामायण आदि के प्रमाण पर बहुत कुछ फेर फार किया। जैसा कि उनके लिखने से प्रकट होता है, सब से अधिक आश्रय काकभुसुंडि रामायण का ही जान पड़ता है। यह 'रामचरित मानस' नाम भी मालूम होता है' उसी ग्रंथ से प्राप्त हुआ है। काकभुसुंडि कहते हैं—मुनि मोहि कछुक काल तहँ राखा। रामचरितमानस तब भाखा।

वाल्मीकि रामायण से कथा-प्रसंग में कई जगह भेद मिलता है। जैसे, वाल्मीकि ने परशुराम का मिलना विवाह के पीछे लौटते समय लिखा है, पर गोस्वामी जी ने धनुष टूटने के बाद ही। जयंत-वाली कथा वाल्मीकि ने सीता के मुख से सुंदरकांड में हनुमान के सामने कहलाई है जिसमें हनुमान रामचंद्र जी को सीता के मिलने का प्रमाण दें; पर 'मानस' में उसका यथास्थान वर्णन किया गया है। वाल्मीकि ने सेतु बँधने पर शिव की स्थापना नहीं लिखी है, केवल लंका से लौटते समय पुष्पक विमान पर से रामचंद्र सीता को समुद्रतट दिखाते हुए कहते हैं कि "यहाँ पर सेतु बाँधने के पहले शिव ने मेरे ऊपर अनुग्रह किया था"। वाल्मीकि रामायण में युद्धकांड ही में भरतमिलाप, राज्याभिषेक सब कुछ हो जाता है। इसके अतिरिक्त छोटे ब्योरों में तो बहुत जगह भेद है, जैसे 'मानस' में अध्यात्म

रामायण के अनुसार कौवे का सीता के चरण में चोंच मारना लिखा है, पर वाल्मीकि ने स्तनांतर में। छोटे छोटे ब्योरों और संवाद आदि की सामग्री तो गोस्वामी जी ने रघुवंश, हनुमान नाटक, प्रसन्न-राघव आदि कई जगहों से ली है। कुछ उक्तियाँ भी इधर उधर से ली हैं, जैसे वर्षा और शरद् वर्णन की उक्तियाँ। "गिरा अनयन नयन बिनु बानी" वाली उक्ति भागवत से ली गई है। भागवत से ही नंद-दास ने ली है—

नैनन के नहिं बैन, बैन के नैन नहीं हैं।

इसके अतिरिक्त 'क्वचिदन्यतोऽपि' भी समझिए।

नीचे संस्कृत कवियों से ली हुई कुछ उक्तियाँ दी जाती हैं—

अयोध्याकांड में लिखा है—

राय सुभाय मुकुर कर लीन्हा। बदन बिलोकि मुकुट सम कीन्हा॥
स्रवन समीप भए सित केसा। मनहुँ जरठपन अस उपदेसा॥
नृप जुवराज राम कहँ देहू। जीवन जनम लाहु किन लेहू॥

रघुवंश में कालिदास का श्लोक देखिए—

"तं कर्णमूलमागत्य रामे श्रीर्न्यस्यतामिति।
कैकेयी शंकयेवाह पलितच्छद्मना जरा॥"

किष्किंधाकांड में वर्षा और शरद्-वर्णन प्रायः ज्यों का त्यों श्रीमद्भागवत से अनुवाद किया है। उदाहरण के लिये दो चार स्थल से उद्धृत करते हैं—

"मेघागमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनन्दन् शिखंडिनः।
गृहेषु तप्ता निर्विण्णा यथाच्युतजनागमे॥" [श्रीमद्भा०]

"लछिमन देखहु मोर गन नाचत बारिद पेखि।
गृही बिरति रत हरष जस बिष्णु भगत कहँ देखि॥

श्रुत्वा पर्जन्यनिनदं मण्डूका व्यसृजन् गिरः।
तूष्णीं शयानाः प्राग्यद्वद् ब्राह्मणा नियमात्यये॥"
[श्रीमद्भागवत]

"दादुर धुनि चहुँ दिसा सोहाई। वेद पढ़हि जनु बटु समुदाई।"

"क्षेत्राणि सस्यसंपद्भिः कर्षकाणां मुदं ददुः।
धनिनामुपतापञ्च दैवाधीनमजानताम्॥"

[श्रीमद्भागवत]

"सस संपन्न सोह महि कैसी। उपकारी कै संपति जैसी।"

"जलौघैर्निरभिद्यन्त सेतवो वर्षतीश्वरे।
पाखण्डिनामसद्वादैर्वेदमार्गाः कलौ यथा॥"

[श्रीमद्भागवत]

"हरित भूमि तृन संकुल समुझि परहिं नहिं पंथ।
जिमि पाखंड विवाद में गुप्त होहिं सद ग्रंथ॥
"शरदा नीरजोत्पत्त्या नीराणि प्रकृतिं ययुः।
भ्रष्टानामिव चेतांसि पुनर्योगनिसेवया॥"

[श्रीमद्भागवत]

"सरिता सर निर्मल जल सोहा। संत हृदय जस गत मद मोहा।"

"खमशोभत निर्मेघं शरद्विमलतारकम्।
सत्त्वयुक्तं यथा चित्तं शब्दब्रह्मार्थदर्शनम्"॥

[श्रीमद्भागवत]

"बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि सब आसा"।

यह वह ग्रंथ है जिसने तुलसीदास जी को क्या, हिंदी साहित्य को अमर कर दिया। आज शायद ही कोई ऐसा हिंदू घर हो जिस में एक भी साक्षर व्यक्ति हो और यह पोथी न हो। हिंदी बोलने-वाला हिंदू तो ऐसा एक भी न मिलेगा जो रामायण की दो चार चौपाइयाँ न जानता हो। उत्तर भारत में जितना प्रचार इस ग्रंथ का है, उतना किसी और ग्रन्थ का किसी एक भूभाग के बीच न होगा। इसकी लोक-प्रियता का कारण है इसके भीतर मनुष्य-जीवन में साधारणतः आनेवाली प्रत्येक दशा और प्रत्येक परिस्थिति का सन्निवेश तथा इस दशा और परिस्थिति का अत्यंत स्वाभाविक,

मर्मस्पर्शी और सर्वग्राह्य रूप में चित्रण है। जैसा लोकाभिराम रामचरित था, वैसी ही प्रसादमयी गंभीर गिरा उसके प्रकाश के लिये मिली। फिर "रामचरित मानस" हिंदू जीवन का आधार क्यों न होता? भारतवर्ष के जिस कोने में लोग इस ग्रन्थ को पूरा पूरा नहीं भी समझ सकते, वहाँ भी वे थोड़ा बहुत जितना समझ पाते हैं, उतने ही के लिये इसे पढ़ते हैं। कथाएँ तो और भी कही जाती हैं पर जहाँ सबसे अधिक श्रोता देखिए और उन्हें रोते और हँसते पाइए, वहाँ समझिए कि तुलसीदास जी की रामायण हो रही है। साधारण जनता के मानस पर इस 'मानस' का कितना अधिकार है, बस इतने ही से समझ लीजिए। इसे साधारण हिंदू जनता की इंजील या कुरान समझिए। जब कोई मुसलमान किसी बात पर खुद कुरान उठाने के लिये तैयार होता है, तब वह अपने हिंदू प्रतिपक्षी से रामायण उठाने को कहता है।

इसी एक ग्रन्थ से जन-साधारण को नीति का उपदेश, सत्कर्म की उत्तेजना, दुःख में धैर्य्य, आनंदोत्सव में उत्साह, कठिन स्थिति को पार करने का बल सब कुछ प्राप्त होता है। यह उनके जीवन का साथी हो गया है। बालक-वृद्ध, मूर्ख-पंडित सबको इसमें ऐसी बातें मिलेंगी जिनमें वे अपनी विद्या-बुद्धि के अनुसार मग्न हो सकते हैं।

जिस धूमधाम से इस ग्रन्थ की प्रस्तावना उठती है, उसे देखते ही इसके महत्व का आभास मिलने लगता है। ऐसी गौरवपूर्ण, गंभीर और विशद प्रस्तावना किसी ग्रंथ की नहीं देखी गई। रामायणों में प्रसिद्ध है कि 'बालकांड' के आदि, 'अयोध्या' के मध्य और 'उत्तर' के अंत की गंभीरता की थाह बहुत डूबने से मिलती है। बात भी कुछ ऐसी ही है। मनुष्य-जीवन की दशा के हिसाब से देखें तो बालकांड में आनन्दोत्सव अपनी हद को पहुँचता है; 'अयोध्या' में गार्हस्थ्य की विषम स्थिति सामने आती है; 'अरण्य'

'किष्किंधा' और 'सुंदर' कर्म और उद्योग का काल सूचित करते हैं; और 'लंका' में विजय और विभूति का चित्र दिखाई पड़ता है।

कहते हैं कि 'रामायण' को 'भाषा' में कर देने के कारण काशी के संस्कृताभिमानी पंडित तुलसीदास जी पर बहुत नाराज़ हुए। उन्होंने रामायण की प्रामाणिकता के संबंध में अपना संदेह प्रकट किया। अंत में यह स्थिर हुआ कि यदि विश्वनाथ जी इसे स्वीकार कर लें तो यह मान्य हो सकती है, अन्यथा नहीं। अतः रामायण विश्वनाथ जी के मंदिर में रात को रख दी गई। सवेरे उठकर देखा गया कि विश्वनाथ जी ने उस पर अपनी स्वीकृति लिख दी थी।

भाषा इस ग्रंथ की अवधी है। पर 'रामलला नहछू' 'पार्वती मंगल' और 'जानकी मंगल' के समान सर्वत्र पूरबी अवधी का ही व्यवहार नहीं है, पछाहीं अवधी भी मिली हुई है। कहीं कहीं तो—पर कम—व्रजभाषा की झलक भी है।

विनयपत्रिका—इस ग्रंथ में राग-रागिनियों में गोस्वामी जी ने विनय के पद लिखे हैं। यद्यपि इसमें के बहुतेरे पद ऐसे हैं जो तुलसीदास जी ने समय समय पर बनाए हैं, तथापि ऐसा जान पड़ता है कि इस ग्रंथ को उन्होंने यथा-क्रम से रचा। इस ग्रंथ से बढ़कर दूसरे किसी ग्रंथ में ग्रंथकर्त्ता ने अपनी कवित्व-शक्ति नहीं दिखलाई है। इसके बनने के विषय में यह प्रसिद्ध है कि एक दिन एक हत्यारा पुकारता फिरता था कि "मैं हत्यारा हूँ, मुझे राम के नाम पर कोई राम का प्यारा है जो खिलावे"। तुलसीदासजी ने उसकी पुकार और श्रीरामचंद्रजी का नाम सुनकर प्रेम के साथ उसको बुलाया और महाप्रसाद खिलाया। इस पर काशी के ब्राह्मण बहुत बिगड़े और उन्होंने इनको बुलाकर पूछा कि "आप ने इसके साथ कैसे खाया और इसकी हत्या कैसे छूटी?" गुसाईं जी ने कहा—"आप लोग रामनाम की महिमा ग्रंथों में देखिए। आप को उस पर विश्वास नहीं है, यही कचाई है"। इस पर भी उन लोगों का जी

नहीं भरा। तब तुलसीदास जी ने पूछा कि "अच्छा, आप लोगों का जी कैसे भरेगा?" उन लोगों ने कहा कि "जो विश्वनाथ जी का नन्दी (पत्थर का) इस के हाथ से खा ले तो हम लोग मानें"। ऐसा ही किया गया और नन्दी ने उसके हाथ से खा लिया। तब सब लोग लजाकर चुप हो गए। यह देखकर बहुत लोगों को विश्वास आ गया और लोग भगवद्भक्ति करने लगे। इस पर कलियुग बहुत बिगड़ा और प्रत्यक्ष रूप से आकर तुलसीदास जी को धमकाने लगा। इन्होंने हनुमान जी से फर्याद की। हनुमान जी ने कहा, घबराओ मत, तुम एक विनयपत्रिका स्वामी (श्रीरामचंद्र जी) की सेवा में लिखो; हम उसे पेश कर के कलियुग को दण्ड देने की आज्ञा ले लेंगे तब ठीक होगा; क्योंकि वह इस समय का राजा है। उससे हम बिना प्रभु की आज्ञा के कुछ नहीं बोल सकते"। इसी पर तुलसीदास जी ने यह ग्रन्थ बनाया।

(१) इसमें पहले गणेश, सूर्य, शिव, भैरव, पार्वती, गंगा, यमुना, काशी के क्षेत्रपाल, चित्रकूट, हनुमान, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न और सीताजी की वंदना करके फिर श्रीरामचंद्रजी से विनय की है। और देवताओं से केवल यही प्रार्थना की है कि श्रीरामचरण में मुझे भक्ति हो। यह ग्रन्थ विशेष करके काशी ही में बना है, क्योंकि मणिकर्णिका, पंचगंगा, बिंदुमाधव, विश्वनाथ, काशी, दण्डपाणि, भैरव, त्रिलोचन, कर्णघंटा, पंचक्रोश, अन्नपूर्णा और केशवदेव आदि देवताओं और तीर्थों का वर्णन इसमें बहुत है। इसमें संदेह नहीं कि इसका कुछ अंश चित्रकूट और प्रयाग में भी बना है।

(२) हनुमानजी की वंदना में जो पद हैं, उनसे यह प्रकट होता है कि कहीं विपत्ति में पड़कर इनका स्मरण किया है। "ऐसो तोहि न बूझिये हनुमान हठीले" वाला पद, जो पहले एक स्थान पर पूरा दिया जा चुका है, हत्यारे और कलियुग के प्रसंग को दृढ़ करता है।

(३) तुलसीदास जी को जब दिल्ली के बादशाह ने क़ैद कर लिया था, उस समय उन्होंने हनुमान जी की बहुत कुछ वन्दना की थी, जिस पर कहते हैं कि हनुमान् जी ने कोप किया और बंदरों से बादशाह के महल को उजड़वा डाला। नीचे लिखा पद उसी संबंध का जान पड़ता है—

"अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी।
इनको बिलग न मानिये बोलहिं न बिचारी॥
लोकरीति देखी सुनी व्याकुल नर नारी।
अति बरषे अनबरषेउ देहिं दैवहिं गारी॥
ना कहि आये आप सों भये साँसति भारी।
कहि आये कीबी छमा निज ओर निहारी॥
समय साँकरे सुमिरिये समरथ हितकारी।
सो सब बिधि उपकार करइ अपराध बिसारी॥
बिगरी सेवक की सदा साहेबहि सुधारी।
तुलसी पर तेरी कृपा निरुपाधि निहारी"॥ ३॥

फिर ३५ वें पद में लिखा है—

"बंदि छोर बिरुदावली निगमागम गाई।
नीको तुलसीदास को तेरिये निकाई॥"

(४) ४३ वें पद में संक्षेप में रामचरित, देवताओं की स्तुति से लेकर राज्याभिषेक तक का वर्णन किया है। ४५ वें में राजा राम की वन्दना है।

(५) ४८ वें पद में श्रीकृष्ण की वन्दना है।

(६) ५२ वें पद में दशावतार-वर्णन है।

(७) ६१, ६२, ६३ पद में श्रीबिन्दुमाधव जी की वन्दना की है।

(८) ७६ वें पद से गोसाईं जी के जीवनचरित से बहुत कुछ संबंध जान पड़ता है। इनका पूर्व नाम जो रामबोला लोग कहते हैं, वह इसी के आधार पर जान पड़ता है। माता-पिता का छोड़ देना

और बचपन ही से गुरु के साथ घूमना, यह सब रामायण आदि से भी प्रमाणित है। इसमें भी इसी की दृढ़ता होती है।

"राम को गुलाम नाम रामबोला राम राख्यो
काम इहै नाम द्वैहौं कबहूँ कहत हौं।
रोटी लूगा नीके राखे आगे हू को वेद भाषे
भलो ह्वैहै तेरो तातें आनँद लहत हौं॥
बाँध्यो हौं करम जड़ गरब गूढ़ निगड
सुनत दुसह हौं साँसति सहत हौं।
आरत अनाथ नाथ कोसलपाल कृपाल लीन्यो
छीन दीन देख्यो दुरित दहत हौं॥
पूछ्यो ज्योंही कह्यो मैं हूँ चेरो ह्वैहौं रावरो
जू मेरे कोऊ कहूँ नाहीं चरन गहत हौं।
मींज्यो गुरु पीठ अपनाइ गहि बाँह बोलि
सेवक सुखद सदा बिरद बहत हौं॥
लोग कहैं पोच सो न सोच न सँकोच मेरे
ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौं।
तुलसी अकाज काज राम ही के रीझे खीझे
प्रीति की प्रतीति मन मुदित रहत हौं" ॥७६॥

(९) ब्राह्मणों को ये बहुत ही बड़ा मानते थे। १४२ वें पद में लिखा है—

"विप्र द्रोह जनु बाँट पर्‌यो हठि सब सन बैर बढ़ावौं।
ताहू पर निज मति बिलास सब संतन्ह माँझ गनावौं॥"

(१०) २२७ वें पद में भी माँ-बाप के छोड़ने और बिना नाम के इधर उधर भटकने का वर्णन किया है। यह भी पहले एक स्थान पर पूरा दिया जा चुका है।

(११) २७५ वें पद में माता-पिता के छोड़ने पर ग्लानि होने और संतों के ढाढ़स देने का वर्णन किया है—

"द्वार द्वार दीनता कही काढ़ि रद परि पाहूँ ।
है दयाल दुनी दसौ दिसा दुख दोष
दलन छमि कियो न संभाषन काहूँ ॥
तनु तज्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु पिताहूँ ।
काहे को रोस दोस काहि धौं मेरेही
अभाग मो सों सकुचत सब छुइ छाहूँ ॥
दुखित देखि संतन कहेउ सोचै जनि मन माहूँ ।
तो से पसु पावँर पातकी परिहरे
न सरन गए रघुवर ओर निवाहूँ ॥
तुलसी तिहारो भए भयो सुखी प्रीति प्रतीति बिनाहूँ ।
नाम की महिमा सीलुनाथ को मेरो
भलो विलोकि अब तें सकुचहुँ सिहाहूँ ॥२७५॥"

(१२) २७७ में "विनयपत्रिका" लिखकर पेश करने का वर्णन किया है—

"विनय पत्रिका दीन की बापु आपु ही बाँचो ।
हिए हेरि तुलसी लिखी सो सुभाय सही करि बहुरि पूछि पाँचो।"

(१३) २७८ में हनुमान, शत्रुघ्न, भरत और लक्ष्मण से प्रार्थना की है कि मौका पाकर सिफ़ारिश करके मेरा काम बना देना ।

(१४) २७९ वें (अन्तिम) पद में लिखा है कि हनुमान और भरत का रुख पाकर लक्ष्मण ने स्वामी से हमारी विनती की । भगवान् ने हँसकर कहा हाँ, हमें भी ख़बर लगी है—

"मारुति मन रुचि भरत की लखि लषन कही है ।
कलिकालहुँ नाथनाम सों परतीति प्रीति किंकर की निवही है ॥
सकल सभा सुनि लै उठी जानी रीति रही है ।
कृपा गरीबनेवाज की देखत गरीब को साहब बाँह गही है ॥
बिहँसि राम कह्यो सत्य है सुधि मैं हूँ लही है ।
मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ सही है॥२७९॥"

इस ग्रंथ में तो तुलसीदास जी ने अपना अपरिमित पांडित्य, शब्द-भाण्डार, वाक्य-विन्यासपटुता, अर्थ-गौरव, उक्ति-वैचित्र्य और सब से बढ़कर अपना दिव्य: अंतःकरण खोलकर रख दिया है; क्योंकि यह महाराज रामचंद्र जी के दरबार में गुज़रनेवाली अर्ज़ी है। अर्ज़ी की तहरीर जबरदस्त होनी ही चाहिए। यह अर्ज़ी योंही बाला बाला नहीं भेज दी जाती है। क़ायदे के ख़िलाफ़ काम करनेवाले—मर्य्यादा का भंग करनेवाले—आदमी तुलसीदास जी नहीं हैं। बीच के देवताओं और मुसाहबों के पास से होती हुई तब हुज़ूर में गुज़रती है। वहाँ पहले से सधे हुए लोग मौजूद हैं। हनुमान और भरत धीरे से इशारा करते हैं (दरबार है, ठट्ठा नहीं है)। तब लक्ष्मण धीरे से अर्ज़ी पेश करते हैं; और लोग भी ज़ोर दे देते हैं। अंत में महाराजाधिराज हँसकर यह कहते हुए कि "मुझे भी इसकी ख़बर है" मंज़ूरी लिख देते हैं।

भक्तों के हृदय का तो यह ग्रंथ सर्वस्व है। भक्ति की पूरी पद्धति इसके भीतर दिखाई गई है। पहले वे प्रभु के महत्व और सौंदर्य्य के साथ साथ अपने लघुत्व का आनन्द पूर्ण अनुभव करते हैं जिससे 'दैन्य' के अद्भुत उद्गार हृदय से उमड़ते चले आते हैं। फिर अपने दोषों पर लज्जित होते हैं और ग्लानि से दबे जाते हैं। अंत में उनके 'शील स्वभाव' की ओर ध्यान जाता है और हृदय में मंगलाशा का उदय होता है।
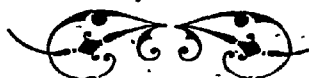
आलोचना-खंड

लोक-धर्म

कर्म, ज्ञान और उपासना लोकधर्म के ये तीन अवयव जन-समाज की स्थिति के लिये बहुत प्राचीन काल से भारत में प्रतिष्ठित हैं। मानव जीवन की पूर्णता इन तीनों के मेल के बिना नहीं हो सकती। पर देशकाल के अनुसार कभी किसी अवयव की प्रधानता रही, कभी किसी की। यह प्रधानता लोक में जब इतनी प्रबल हो जाती है कि दूसरे अवयवों की ओर लोक की प्रवृत्ति का अभाव सा होने लगता है, तब साम्य स्थापित करने के लिये शेष अवयवों की ओर जनता को आकर्षित करने के लिये कोई न कोई महात्मा उठ खड़ा होता है। एक बार जब कर्म-कांड की प्रबलता हुई तब याज्ञवल्क्य के द्वारा उपनिषदों के ज्ञानकांड की ओर लोग प्रवृत्त किए गए। कुछ दिनों में फिर कर्मकांड प्रबल पड़ा और यज्ञों में पशुओं का बलि धूमधाम से होने लगा। उस समय भगवान् बुद्धदेव का अवतार हुआ जिन्होंने भारतीय जनता को एक बार कर्मकांड से बिलकुल हटाकर अपने ज्ञानवैराग्य मिश्रित धर्म की ओर लगाया। पर उनके धर्म में 'उपासना' का भाव नहीं था, इससे साधारण जनता के हृदय की तृप्ति उससे न हुई और उपासना-प्रधान धर्म की स्थापना फिर से हुई।

पर किसी एक अवयव की अत्यंत वृद्धि से उत्पन्न विषमता हटाने के लिये जो मत प्रवर्तित हुए, उनमें उनके स्थान पर दूसरे अव-यव का हद से बढ़ना स्वाभाविक था। किसी बात की एक हद पर पहुँचकर जनता फिर पीछे पलटती है और क्रमशः बढ़ती हुई दूसरी हद पर जा पहुँचती है। धर्म और राजनीति दोनों में यह

उलट-फेर चक्रगति के रूप में होता चला आ रहा है। जब जन-समाज नई उमंग से भरे हुए किसी शक्तिशाली व्यक्ति के हाथ में पड़कर किसी एक हद से दूसरी हद पर पहुँचा दिया जाता है, तब काल पाकर उसे फिर किसी दूसरे के सहारे किसी दूसरी हद तक जाना पड़ता है। जिन मतप्रवर्तक महात्माओं को आजकल की बोली में हम 'सुधारक' कहते हैं, वे भी मनुष्य थे। किसी वस्तु को अत्यधिक परिमाण में देख जो विरक्ति या द्वेष होता है, वह उस परिणाम के ही प्रति नहीं रह जाता किंतु उस वस्तु तक पहुँचता है। चिढ़नेवाला उस वस्तु की अत्यधिक मात्रा से चिढ़ने के स्थान पर उस वस्तु से ही चिढ़ने लगता है और उससे भिन्न वस्तु की ओर अग्रसर होने और अग्रसर करने में परिमिति या मर्यादा का ध्यान नहीं रखता। इससे नए नए मत-प्रवर्तकों या 'सुधारकों' से लोक में शांति स्थापित होने के स्थान पर अब तक अशांति ही होती आई है। धर्म के सब पक्षों का ऐसा सामंजस्य जिससे समाज के भिन्न भिन्न व्यक्ति अपनी प्रकृति और विद्याबुद्धि के अनुसार धर्म का स्वरूप ग्रहण कर सकें, यदि पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो जाय तो धर्म का रास्ता अधिक चलता हो जाय।

उपर्युक्त सामंजस्य का भाव लेकर गोस्वामी तुलसीदास जी की आत्मा ने उस समय भारतीय जन-समाज के बीच अपनी ज्योति जगाई जिस समय नए नए संप्रदायों की खींचतान के कारण आर्य्यधर्म का व्यापक स्वरूप आँखों से ओझल हो रहा था, एकांगदर्शिता बढ़ रही थी। जो एक कोना देख पाता था, वह दूसरे कोने पर दृष्टि रखनेवालों को बुरा भला कहता था। शैवों, वैष्णवों, शाक्तों और कर्मठों की तू तू मैं मैं तो थी ही, बीच में मुसलमानों से अविरोध-प्रदर्शन करने के लिये भी अपढ़ जनता को साथ लगानेवाले कई नए नए पंथ निकल चुके थे जिनमें एकेश्वरवाद का कट्टर स्वरूप, उपासना का आशिकी रंग ढंग, ज्ञान-विज्ञान की निंदा, विद्वानों

का उपहास, वेदांत के दो चार प्रसिद्ध शब्दों का अनधिकार-प्रयोग आदि सब कुछ था; पर लोक को व्यवस्थित करनेवाली वह मर्यादा न थी जो भारतीय आर्य्यधर्म का प्रधान लक्षण है। जिस उपासना-प्रधान धर्म का ज़ोर बुद्ध के पीछे बढ़ने लगा, वह उस मुसलमानी राजत्वकाल में आकर जिसमें जनता की बुद्धि भी पुरुषार्थ के ह्रास के साथ साथ शिथिल पड़ गई थी, कर्म और ज्ञान दोनों की उपेक्षा करने लगा था। ऐसे समय में इन नए पंथों का निकलना कुछ आश्चर्य्य की बात नहीं। इधर शास्त्रों का पठन-पाठन कम लोगों में रह गया था, उधर ज्ञानी कहलाने की इच्छा रखनेवाले मूर्ख बढ़ रहे थे जो किसी "सतगुरु के प्रसाद" मात्र से ही अपने को सर्वज्ञ मानने के लिये तैयार बैठे थे। अतः सतगुरु भी उन्हीं में से निकल पड़ते थे जो धर्म्म का कोई एक अंग नोचकर एक ओर भाग खड़े होते थे; और कुछ लोग झाँझ खंजड़ी लेकर उनके पीछे हो लेते थे। दंभ बढ़ रहा था। "ब्रह्म-ज्ञान बिनु नारि नर कहहिं न दूसरि बात।" ऐसे लोगों ने भक्ति को बदनाम कर रखा था। 'भक्ति' के नाम पर ही वे वेदशास्त्रों की निंदा करते थे, पण्डितों को गालियाँ देते थे, और आर्य्य-धर्म के सामाजिक तत्त्व को न समझकर लोगों में वर्णाश्रम के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न कर रहे थे। यह उपेक्षा लोक के लिये कल्याणकर नहीं। जिस समाज से बड़ों का आदर, विद्वानों का सम्मान, अत्याचार का दमन करनेवाले शूरवीरों के प्रति श्रद्धा इत्यादि भाव उठ जायँ, वह कदापि फल फूल नहीं सकता; उसमें अशांति सदा बनी रहेगी।

'भक्ति' का यह विकृत रूप जिस समय उत्तर भारत में अपना स्थान जमा रहा था, उसी समय भक्तवर गोस्वामी जी का अवतार हुआ जिन्होंने वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, कुलाचार, वेदविहित कर्म, शास्त्र प्रतिपादित ज्ञान इत्यादि सब के साथ भक्ति का पुनः सामंजस्य स्थापित करके आर्य्य धर्म को छिन्न भिन्न होने से बचाया। ऐसे

सर्वांगदर्शी लोकव्यवस्थापक महात्मा के लिये मर्य्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचंद्र के चरित्र से बढ़कर अवलंब और क्या मिल सकता था। उसी आदर्श चरित्र के भीतर अपनी अलौकिक प्रतिभा के बल से उन्होंने धर्म के सब रूपों को दिखाकर भक्ति का प्रकृत आधार खड़ा किया। जनता ने लोक की रक्षा करनेवाले प्राकृतिक धर्म का मनोहर रूप देखा। उसने धर्म को दया, दाक्षिण्य, नम्रता, सुशीलता, पितृभक्ति, सत्यव्रत, उदारता, प्रजापालन, क्षमा आदि में ही नहीं देखा बल्कि क्रोध, घृणा, शोक, विनाश और ध्वंस आदि में भी उसे देखा। अत्याचारियों पर जो क्रोध प्रकट किया जाता है, असाध्य दुर्जनों के प्रति जो घृणा प्रकट की जाती है, दीन दुखियों को सतानेवालों का जो संहार किया जाता है, कठिन कर्त्तव्यों के पालन में जो वीरता प्रकट की जाती है, उसमें भी धर्म अपना मनोहर रूप दिखाता है। जिस धर्म की रक्षा से लोक की रक्षा होती है—जिससे समाज चलता है—वह यही व्यापक धर्म है। सत् और असत्, भले और बुरे दोनों के मेल का नाम संसार है। पापी और पुण्यात्मा, परोपकारी और अत्याचारी, सज्जन और दुर्जन सदा से संसार में रहते आए हैं और सदा रहेंगे।

सुगुन छीर अवगुन जल, ताता।
मिलइ रचइ परपंच विधाता॥

किसी एक सर्प को उपदेश द्वारा चाहे कोई अहिंसा में तत्पर कर दे, किसी डाकू को साधु बना दे, क्रूर को सज्जन कर दे पर सर्प, दुर्जन और क्रूर संसार में रहेंगे और अधिक रहेंगे। यदि ये उभय पक्ष न होंगे तो सारे धर्म और कर्तव्य की, सारे जीवन-प्रयत्न की इतिश्री हो जायगी। यदि एक गाल में चपत मारनेवाला ही न रहेगा तो दूसरा गाल फेरने का महत्व कैसे दिखाया जायगा? प्रकृति के तीनों गुणों की अभिव्यक्ति जब तक अलग अलग है, तभी तक उसका नाम जगत् या संसार है। अतः ऐसी दुष्टता सदा

रहेगी जो सज्जनता के द्वारा कभी नहीं दबाई जा सकती, ऐसा अत्याचार सदा रहेगा जिसका दमन उपदेशों के द्वारा कभी नहीं हो सकता। संसार जैसा है, वैसा मानकर उसके बीच से, एक एक कोने को स्पर्श करता हुआ, जो धर्म निकलेगा वही धर्म लोक-धर्म होगा। जीवन के किसी एक अंग मात्र को स्पर्श करनेवाला धर्म लोकधर्म नहीं। जो धर्म उपदेश द्वारा न सुधरनेवाले दुष्टों और अत्याचारियों को दुष्टता के लिये छोड़ दे, उनके लिये कोई व्यवस्था न करे, वह लोकधर्म नहीं, व्यक्तिगत साधना है। यह साधना मनुष्य की वृत्ति को ऊँचे से ऊँचे ले जा सकती है जहाँ वह लोकधर्म से परे हो जाती है। पर सारा समाज इसका अधि-कारी नहीं। जनता की प्रवृत्तियों का औसत निकालने पर धर्म का जो मान निर्धारित होता है, वही लोकधर्म होता है।

ईसाई, बौद्ध, जैन, इत्यादि वैराग्यप्रधान मतों में साधना के जो धर्मोपदेश दिए गए, उनका पालन अलग अलग कुछ व्यक्तियों ने चाहे किया हो, पर सारे समाज ने नहीं किया। किसी ईसाई साम्राज्य ने अन्याय-पूर्वक अग्रसर होनेवाले दूसरे साम्राज्य से मार खाकर अपना दूसरा गाल नहीं फेरा। वहाँ भी समष्टिरूप में जनता के बीच लोकधर्म ही चलता रहा। अतः व्यक्तिगत साधना के कोरे उपदेशों की तड़क भड़क दिखाकर लोकधर्म के प्रति उपेक्षा प्रकट करना पाखंड ही नहीं है, उस समाज के प्रति घोर कृतघ्नता भी है जिसके बीच काया पली है।

लोकमर्य्यादा का उल्लंघन, समाज की व्यवस्था का तिरस्कार, अनधिकार चर्चा, भक्ति और साधुता का मिथ्या दंभ, मूर्खता छिपाने के लिये वेदशास्त्र की निंदा ये सब बातें ऐसी थीं जिनसे गोस्वामी की अंतरात्मा बहुत व्यथित हुई।

इस दल का लोकविरोधी स्वरूप गोस्वामी जी ने खूब पह-चाना। समाज-शास्त्र के आधुनिक विवेचकों ने भी लोकसंग्रह और

लोक-विरोध की दृष्टि से जनता का विभाग किया है। गिडिंग्ज़ के चार विभाग ये हैं--लोकसंग्रही, लोकबाह्य, अलोकोपयोगी और लोकविरोधी *। लोकसंग्रही वे हैं जो समाज की व्यवस्था और मर्य्यादा की रक्षा में तत्पर रहते हैं और भिन्न भिन्न वर्गों के परस्पर संबंध को सुखावह और कल्याण-प्रद करने की चेष्टा में रहते हैं। लोकबाह्य वे हैं जो केवल अपने जीवन-निर्वाह से काम रखते हैं और लोक के हिताहित से उदासीन रहते हैं। अलोकोपयोगी वे हैं जो समाज में मिले तो दिखाई देते हैं, पर उसके किसी अर्थ के नहीं होते; जैसे आलसी और निकम्मे जिन्हें पेट भरना ही कठिन रहता है। लोकविरोधी वे हैं जिन्हें लोक से द्वेष होता है और जो उसके विधान और व्यवस्था को देखकर जला करते हैं। गिडिंग्ज़ ने इस चतुर्थ वर्ग के भीतर पुराने पापियों और अपराधियों को लिया है। पर अपराध की अवस्था तक न पहुँचे हुए लोग भी उसके भीतर आते हैं जो अपने ईर्ष्या-द्वेष का उद्गार उतने उग्र रूप में नहीं निकालते, कुछ मृदुल रूप में प्रकट करते हैं।

अशिष्ट संप्रदायों का औद्धत्य गोस्वामी जी नहीं देख सकते थे। इसी औद्धत्य के कारण विद्वान् और कर्मनिष्ठ भी भक्तों को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे थे जैसा कि गोस्वामी जी के इन वाक्यों से प्रकट होता है—

कर्मठ कठमलिया कहैं ज्ञानी ज्ञान-विहीन।

धर्म-व्यवस्था के बीच ऐसी विषमता उत्पन्न करनेवाले नए नए पंथों के प्रति इसीसे उन्होंने अपनी चिढ़ कई जगह प्रकट की है; जैसे—

श्रुतिसम्मत हरिभक्त पथ, संजुत बिरति बिबेक।

---

* The true Social Classes are—the Social, the non-Social, the pseudo-Social and the anti-Social—Gidding's "The Principles of Sociology,"

तेहि परिहरिहि विमोहवस कल्पहि पंथ अनेक ।

* * * *

साखी, सबदी दोहरा, कहि किहनी उपखान ।
भगत निरूपहिं भगति कलि निंदहिं वेद पुरान ॥

उत्तर कांड में कलि के व्यवहारों का वर्णन करते हुए वे इस प्रसंग में कहते हैं—

बादहिं शूद्र द्विजन सन हम तुम तें कछु घाटि ।
जानहि ब्रह्म सो विप्रवर, आँखि दिखावहिं डाँटि ॥

जो बातें ज्ञानियों के चिंतन के लिये थीं, उन्हें अपरिपक्क रूप में अनधिकारियों के आगे रखने से लोकधर्म का तिरस्कार अनिवार्य्य था । 'शूद्र' शब्द से जाति की नीचता मात्र से अभिप्राय नहीं है, विद्या, बुद्धि, शील, शिष्टता, सभ्यता सब की हीनता से है। समाज में मूर्खता का प्रचार, बल और पौरुष का ह्रास, अशिष्टता की वृद्धि, प्रतिष्ठित आदर्शों की उपेक्षा कोई विचारवान् नहीं सहन कर सकता। गोस्वामी जी सच्चे भक्त थे, भक्तिमार्ग की यह दुर्दशा वे कब देख सकते थे ? लोकविहित आदर्शों की प्रतिष्ठा फिर से करने के लिये, भक्ति के सच्चे सामाजिक आधार फिर से खड़े करने के लिये उन्होंने रामचरित का आश्रय लिया जिसके बल से लोगों ने फिर धर्म के जीवन-व्यापी स्वरूप का साक्षात्कार किया और उस पर मुग्ध हुए । "कलिकलुष-विभंजिनी" राम-कथा घर घर धूमधाम से फैली। हिंदू धर्म में नई शक्ति का संचार हुआ । "श्रुतिसम्मत हरिभक्ति" की ओर जनता फिर से आकर्षित हुई । रामचरितमानस के प्रसाद से उत्तर भारत में साम्प्रदायिकता का वह उच्छृंखल रूप अधिक न ठहरने पाया जिसने गुजरात आदि में वर्ग के वर्ग को वैदिक संस्कारों से एक दम विमुख कर दिया था, दक्षिण में शैवों और वैष्णवों का घोर द्वंद्व खड़ा किया था। यहाँ की किसी प्राचीन पुरी में शिवकांची और विष्णुकांची के समान दो अलग अलग बस्तियाँ होने की नौबत नहीं

आई। यहाँ शैवों और वैष्णवों में मारपीट कभी नहीं होती। यह सब किसके प्रसाद से? भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी के प्रसाद से। उनकी शांति-प्रदायिनी मनोहर वाणी के प्रभाव से जो सामंजस्य-बुद्धि जनता में आई, वह अब तक बनी है और जब तक रामचरितमानस का पठन-पाठन रहेगा, तब तक बनी रहेगी।

शैवों और वैष्णवों के विरोध के परिहार का प्रयत्न रामचरितमानस में स्थान स्थान पर लक्षित होता है। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के गणेशखंड में शिव हरिमंत्र के जापक कहे गए हैं। उसके अनुसार उन्होंने शिव को राम का सब से अधिकारी भक्त बनाया, पर साथ ही राम को शिव का उपासक बनाकर गोस्वामी जी ने दोनों का महत्व प्रतिपादित किया। राम के मुखारविंद से उन्होंने स्पष्ट कहला दिया कि—

शिवद्रोही मम दास कहावै।
सो नर सपनेहुँ मोहिं न भावै॥

वे कहते हैं कि "शंकर-प्रिय, मम द्रोही, शिवद्रोही, मम दास" मुझे पसंद नहीं।

इस प्रकार गोस्वामी जी ने उपासना या भक्ति का केवल कर्म और ज्ञान के साथ ही सामंजस्य स्थापित नहीं किया, बल्कि भिन्न भिन्न उपास्य देवों के कारण जो भेद दिखाई पड़ते थे, उनका भी एक में पर्यवसान किया। इसी एक बात से यह अनुमान हो सकता है कि उनका प्रभाव हिंदू समाज की रक्षा के लिये—उसके स्वरूप को रखने के लिये—कितने महत्व का था।

तुलसीदास जी यद्यपि राम के अनन्य भक्त थे, पर लोकरीति के अनुसार अपने ग्रंथों में गणेशवंदना पहले करके तब वे आगे चले हैं। सूरदास जी ने "हरि हरि हरि हरि सुमिरन करौ" से ही ग्रंथ का आरंभ किया है। तुलसीदास जी की अनन्यता सूरदास से कम नहीं थी, पर लोकमर्यादा की रक्षा का भाव लिए हुए थी। सूरदास जी की भक्ति में लोक-संग्रह का भाव न था। पर हमारे गोस्वामी

जी का भाव अत्यंत व्यापक था—वह मानव-जीवन के सब व्यापारों तक पहुँचनेवाला था। राम की लीला के भीतर वे जगत् के सारे व्यवहार, और जगत् के सारे व्यवहारों के भीतर राम की लीला देखते थे। पारमार्थिक दृष्टि से तो सारा जगत् राममय है, पर व्यावहारिक दृष्टि से उसके राम और रावण दो पक्ष हैं। अपने स्वरूप के प्रकाश के लिये मानों राम ने रावण का असत् रूप खड़ा किया। 'मानस' के आरंभ में सिद्धांत-कथन के समय तो वे "सियाराम मय सब जग जानी" सब को "सप्रेम प्रणाम" करते हैं, पर आगे व्यवहार-क्षेत्र में चलकर वे रावण के प्रति 'शठ' आदि बुरे शब्दों का प्रयोग करते हैं।

भक्ति के तत्त्व को हृदयंगम करने के लिये उसके विकास पर ध्यान देना आवश्यक है। अपने ज्ञान की परिमिति के अनुभव के साथ साथ मनुष्य जाति आदिम काल से ही आत्मरक्षा के लिये परोक्ष शक्तियों की उपासना करती आई है। इन शक्तियों की भावना वह अपनी परिस्थिति के अनुरूप ही करती रही। दुःखों से बचने का प्रयत्न जीवन का प्रथम प्रयत्न है। इन दुःखों का आना न आना बिलकुल अपने हाथ में नहीं है, यह देखते ही मनुष्य ने उनको कुछ परोक्ष शक्तियों द्वारा प्रेरित समझा। अतः बलिदान आदि द्वारा उन्हें शांत और तुष्ट रखना उसे आवश्यक दिखाई पड़ा। इस आदिम उपासना का मूल था "भय"। जिन देवताओं की उपासना असभ्य दशा में प्रचलित हुई, वे "अनिष्टदेव" थे। आगे चलकर जब परिस्थिति ने दुःख-निवारण मात्र से कुछ अधिक सुख की आकांक्षा का अवकाश दिया, तब साथ ही देवों के सुख-समृद्धि-विधायक रूप की प्रतिष्ठा हुई। यह 'इष्टानिष्ट' भावना बहुत काल तक रही। वैदिक देवताओं को हम इसी रूप में पाते हैं। वे पूजा पाने से प्रसन्न होकर धन, धान्य, ऐश्वर्य्य, विजय सब कुछ देते थे। पूजा न पाने पर कोप करते थे और घोर अनिष्ट करते थे। व्रज के गोपों ने

जब इंद्र की पूजा बंद कर दी थी, तब इंद्र ने ऐसा ही कोप किया था। उसी काल से 'इष्टानिष्ट' काल की समाप्ति माननी चाहिए।

समाज के पूर्ण रूप से सुव्यवस्थित हो जाने के साथ ही मनुष्य के कुछ आचरण लोकरक्षा के अनुकूल और कुछ प्रतिकूल दिखाई पड़ गए थे। 'इष्टानिष्ट' काल के पूर्व ही लोकधर्म और शील की प्रतिष्ठा समाज में हो चुकी थी; पर उनका संबंध प्रचलित देवताओं के साथ नहीं स्थापित हुआ था। देवगण धर्म और शील से प्रसन्न होनेवाले, अधर्म और दुःशीलता पर कोप करनेवाले नहीं हुए थे; वे अपनी पूजा से प्रसन्न होनेवाले और उस पूजा में त्रुटि से ही अप्रसन्न होनेवाले बने थे। ज्ञानमार्ग की ओर एक ब्रह्म का निरूपण बहुत पहले से हो चुका था, पर वह ब्रह्म लोक-व्यवहार से तटस्थ था। लौकिक उपासना के योग्य वह नहीं था। धीरे धीरे उसके व्यावहारिक रूप, सगुण रूप, की तीन रूपों में प्रतिष्ठा हुई—स्रष्टा, पालक और संहारक। उधर स्थिति-रक्षा का विधान करनेवाले धर्म और शील के नाना रूपों की अभिव्यक्ति पर जनता पूर्ण रूप से मुग्ध हो चुकी थी। उसने चट दया, दाक्षिण्य, क्षमा, उदारता, वत्सलता, सुशीलता आदि उदात्त वृत्तियों का आरोप ब्रह्म के लोकपालक सगुण स्वरूप में किया। लोक में 'इष्टदेव' की प्रतिष्ठा हो गई। नारायण वासुदेव के मंगलमय रूप का साक्षात्कार हुआ। जन-समाज आशा और आनंद से नाच उठा। भागवत धर्म का उदय हुआ। भगवान् पृथ्वी का भार उतारने और धर्म की स्थापना करने के लिये बार बार आते हुए साक्षात् दिखाई पड़े। जिन गुणों से लोक की रक्षा होती है, जिन गुणों को देख हमारा हृदय प्रफुल्ल हो जाता है, उन गुणों को हम जिसमें देखें, वही 'इष्टदेव' है—हमारे लिये वही सब से बड़ा है—

तुलसी जप तप नेम व्रत सब सबही तें होइ।
लहै बड़ाई देवता 'इष्टदेव' जब होइ॥

इष्टदेव भगवान् के स्वरूप के अंतर्गत केवल उनका दया-दाक्षिण्य ही नहीं, असाध्य दुष्टों के संहार की उनकी अपरिमित शक्ति और लोकमर्य्यादा-पालन भी है।

भक्ति का यह मार्ग बहुत प्राचीन है। जिसे रूखे ढंग से 'उपासना' कहते हैं, उसी ने व्यक्ति की रागात्मक सत्ता के भीतर प्रेम परिपुष्ट होकर 'भक्ति' का रूप धारण किया है। व्यष्टि रूप में प्रत्येक मनुष्य के और समष्टि रूप में मनुष्य जाति के सारे प्रयत्नों का लक्ष्य स्थिति-रक्षा है। अतः ईश्वरत्व के तीन रूपों में स्थिति-विधायक रूप ही भक्ति का आलंबन हुआ। विष्णु या वासुदेव की उपासना ही मनुष्य के रतिभाव को अपने साथ लगाकर भक्ति की परम अवस्था को पहुँच सकी। या यों कहिए कि भक्ति की ज्योति का पूर्ण प्रकाश वैष्णवों में ही हुआ।

तुलसीदास के समय में दो प्रकार के भक्त पाए जाते थे। एक तो प्राचीन परंपरा के रामकृष्णोपासक जो वेदशास्त्रज्ञ तत्त्वदर्शी आचार्य्यों द्वारा प्रवर्तित संप्रदायों के अनुयायी थे; जो अपने उपदेशों में दर्शन, इतिहास, पुराण आदि के प्रसंग लाते थे। दूसरे वे जो लोगों को समाज-व्यवस्था की निंदा और पूज्य और सम्मानित व्यक्तियों के उपहास द्वारा आकर्षित करते थे। समाज की व्यवस्था में कुछ विकार आ जाने से ऐसे लोगों के लिये अच्छा मैदान हो जाता है। समाज के बीच शासकों, कुलीनों, श्रीमानों, विद्वानों, शूरवीरों, आचार्य्यों इत्यादि को अवश्य अधिकार और सम्मान कुछ अधिक प्राप्त रहता है; अतः ऐसे लोगों की भी कुछ संख्या सदा रहती है जो उन्हें अकारण ईर्ष्या और द्वेष की दृष्टि से देखते हैं और उन्हें नीचा दिखाकर अपने अहंकार को तुष्ट करने की ताक में रहते हैं। अतः उक्त शिष्ट वर्गों में कोई दोष रहने पर भी उनमें दोषोद्भावना करके कोई चलते पुरजे का आदमी ऐसे लोगों को संग में लगाकर 'प्रवर्तक' 'अगुआ', 'महात्मा' आदि होने का डंका पीट सकता

है। यदि दोष सचमुच हुआ तो फिर क्या कहना है। सुधार की सच्ची इच्छा रखनेवाले दो चार होंगे तो ऐसे लोग पचीस। किसी समुदाय के मद, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष और अहंकार को काम में लाकर 'अगुआ' और 'प्रवर्त्तक' बनने का हौसला रखनेवाले समाज के शत्रु हैं। योरप में जो सामाजिक अशांति चली आ रही है, वह बहुत कुछ ऐसे ही लोगों के कारण। पूर्वीय देशों की अपेक्षा संघनिर्माण में अधिक कुशल होने के कारण वे अपने व्यवसाय में बहुत जल्दी सफलता प्राप्त कर लेते हैं। योरप में जितने लोकविप्लव हुए हैं, जितनी राजहत्या, नरहत्या हुई है, सब में जनता के वास्तविक दुःख और क्लेश का भाग यदि $\frac{1}{3}$ था तो विशेष जन-समुदाय की नीच वृत्तियों का भाग $\frac{2}{3}$। 'क्रांतिकारक' 'प्रवर्त्तक' आदि कहलाने का उन्माद योरप में बहुत अधिक है। इन्हीं उन्मादियों के हाथ में पड़कर वहाँ का समाज छिन्नभिन्न हो रहा है। अभी थोड़े दिन हुए, एक मेम साहब पति-पत्नी के संबंध पर व्याख्यान देती फिरती थीं कि कोई आवश्यक नहीं कि स्त्री पति के घर में ही रहे।

भक्त कहलानेवाले एक विशेष समुदाय के भीतर जिस समय यह उन्माद कुछ बढ़ रहा था, उस समय भक्तिमार्ग के भीतर ही एक ऐसी सात्त्विक ज्योति का उदय हुआ जिसके प्रकाश में लोकधर्म के छिन्नभिन्न होते हुए अंग भक्तिसूत्र के द्वारा ही फिर से जुड़े। चैतन्य महाप्रभु के भाव-प्रवाह के द्वारा बंगदेश में, अष्टछाप के कवियों के संगीत-स्रोत के द्वारा उत्तर भारत में प्रेम की जो धारा बही, उसने पंथवालों की परुष वचनावली से सूखते हुए हृदयों को आर्द्र तो किया, पर वह आर्य-शास्त्रानुमोदित लोकधर्म के माधुर्य की ओर आकर्षित न कर सकी। यह काम गोस्वामी तुलसीदास जी ने किया। हिंदू समाज में फैलाया हुआ विष उनके प्रभाव से चढ़ने न पाया। हिंदू-जनता अपने गौरवपूर्ण इतिहास को भुलाने, कई सहस्र वर्षों के संचित ज्ञानभंडार से वंचित रहने, अपने प्रातःस्म-

रणीय आदर्श पुरुषों के आलोक से दूर पड़ने से बच गई। उसमें यह संस्कार न जमने पाया कि श्रद्धा और भक्ति के पात्र केवल सांसारिक कर्त्तव्यों से विमुख, कर्ममार्ग से च्युत कोरे उपदेश देनेवाले ही हैं। उसके सामने यह फिर से अच्छी तरह झलका दिया गया कि संसार के चलते व्यापारों में मग्न, अन्याय के दमन के अर्थ रण-क्षेत्रों में अद्भुत पराक्रम दिखानेवाले, अत्याचार पर क्रोध से तिलमिलानेवाले, प्रभूत शक्ति-संपन्न होकर भी क्षमा करनेवाले, अपने रूप, गुण और शील से लोक का अनुरंजन करनेवाले, मैत्री का निर्वाह करनेवाले, प्रजा का पुत्रवत् पालन करनेवाले, बड़ों की आज्ञा का आदर करनेवाले, संपत्ति में नम्र रहनेवाले, विपत्ति में धैर्य्य रखनेवाले प्रिय या अच्छे ही लगते हैं, यह बात नहीं है। वे भक्ति और श्रद्धा के प्रकृत आलंबन हैं, धर्म के दृढ़ प्रतीक हैं। जिन जिन वृत्तियों से लोक की रक्षा होती है, उन सब का समाहार अपनी परमावस्था को पहुँचा हुआ जहाँ दिखाई पड़े, वहाँ भगवान् की उतनी कला का पूर्ण प्रकाश समझकर जितनी से मनुष्य को प्रयोजन है—अनंत पुरुषोत्तम को उतनी मर्य्यादा के भीतर देखकर जितनी से लोक का परिचालन होता है—सिर झुकाना मनुष्य होने का परिचय देना है, पूरी आदमियत का दावा करना है। इस व्यवहार-क्षेत्र से परे, नाम रूप से परे जो ईश्वरत्व है वह प्रेम और भक्ति का विषय नहीं, वह चिंतन का विषय है। वह इस प्रकार लक्षित नहीं कि हमारी वृत्तियों का परम लक्ष्य हो सके। अतः अलक्ष्य का बहाना करके जितना लक्ष्य है, उसकी ओर भी ध्यान न देना धर्म से भागना है। हम अपने साथ जगत् का जो संबंध अनुभव करते हैं, उसी के मूल में उसकी सत्ता हमें देखनी चाहिए। इसी से "अलख अलख" पुकारते हुए एक साधु को बाबा जी ने फटकारा था कि—

हम लखि, लखहि हमार, लखि हम हमार के बीच।

तुलसी अलखहि का लखै ? रामनाम जपु नीच ॥

जो ज़रा ज्ञानी होने का दम भरते हैं, वे प्रायः कहा करते हैं कि "ईश्वर को अपने भीतर देखो"। गोस्वामी जी कहते हैं कि भीतर ही क्यों देखें, बाहर क्यों न देखें।

अंतर्जामिहु ते बड़ बाहिरजामि हैं राम, जे नाम लिए तें।
पैंज परे प्रहलादहु को प्रगटे प्रभु पाहन तें, न हिए तें॥

भक्ति केवल ज्ञाता या द्रष्टा के रूप में ही ईश्वर की भावना लेकर संतुष्ट नहीं हो सकती। वह ज्ञातृपक्ष और ज्ञेयपक्ष दोनों को लेकर चलती है।

सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों ने श्रीकृष्ण के शृंगारिक रूप के प्रत्यक्षीकरण द्वारा 'टेढ़ी सीधी निर्गुण वाणी' की खिन्नता और शुष्कता को हटाकर जीवन की प्रफुल्लता का आभास तो दिया, पर भगवान् के लोकसंग्रहकारी रूप का प्रकाश करके धर्म के सौंदर्य्य का साक्षात्कार नहीं कराया। कृष्णोपासक भक्तों के सामने राधा-कृष्ण की प्रेमलीला ही रखी गई, भगवान् की लोकधर्म-स्थापना का मनोहर चित्रण नहीं किया गया। अधर्म और अन्याय से संलग्न वैभव और समृद्धि का जो विच्छेद उन्होंने कौरवों के विनाश द्वारा कराया, लोकधर्म से च्युत होते हुए अर्जुन को जिस प्रकार उन्होंने सँभाला, शिशुपाल के प्रसंग में क्षमा और दंड की जो मर्य्यादा उन्होंने दिखाई, किसी प्रकार वश्त न होनेवाले प्रबल अत्याचारी के निराकरण की जिस नीति के अवलंबन की व्यवस्था उन्होंने जरा-संध-वध द्वारा की, उसका सौंदर्य्य जनता के हृदय में अंकित नहीं किया गया। इससे असंस्कृत हृदयों में जाकर कृष्ण की शृंगारिक भावना ने विलास-प्रियता का रूप धारण किया और समाज केवल नाच-कूदकर जी बहलाने के योग्य हुआ।

जहाँ लोक-धर्म और व्यक्ति-धर्म का विरोध हो, वहाँ कर्म-मार्गी गृहस्थों के लिये लोक-धर्म का ही अवलंबन श्रेष्ठ है। यदि किसी

अत्याचारी का दमन सीधे न्याय संगत उपायों से नहीं हो सकता तो कुटिल-नीति का अवलंबन लोकधर्म की दृष्टि से उचित है। किसी अत्याचारी द्वारा समाज को जो हानि पहुँच रही है, उसके सामने वह हानि कुछ नहीं है जो किसी एक व्यक्ति के बुरे दृष्टांत से होगी। लक्ष्य यदि व्यापक और श्रेष्ठ है तो साधन का अनिवार्य्य अनौचित्य उतना खल नहीं सकता। भारतीय जन-समाज में लोकधर्म का यह आदर्श यदि पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित रहने पाता तो विदेशियों के आक्रमण को व्यर्थ करने में देश अधिक समर्थ होता।

रामचरित के सौंदर्य्य द्वारा तुलसीदास जी ने जनता को लोक-धर्म की ओर जो फिर से आकर्षित किया, वह निष्फल नहीं हुआ। वैरागियों का सुधार चाहे उससे उतना न हुआ हो, पर परोक्ष रूप में साधारण गृहस्थ जनता की प्रवृत्ति का बहुत कुछ सँस्कार हुआ। दक्षिण में रामदास स्वामी ने इसी लोक धर्माश्रित भक्ति का संचार करके महाराष्ट्र-शक्ति का अभ्युदय किया। पीछे से सिखों ने भी लोक-धर्म का आश्रय लिया और सिख-शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। हिंदू-जनता शिवाजी और गुरुगोविंदसिंह को राम-कृष्ण के रूप में और औरंगज़ेब को रावण और कंस के रूप में देखने लगी। जहाँ लोक ने किसी को रावण और कंस के रूप में देखा कि भगवान् के अवतार की संभावना हुई।

गोस्वामी जी ने यद्यपि भक्ति के साहचर्य्य से ज्ञान, वैराग्य का भी निरूपण किया है और पूर्ण रूप से किया है, पर उनका सब से अधिक उपकार गृहस्थों के ऊपर है जो अपनी प्रत्येक स्थिति में उन्हें पुकारकर कुछ कहते हुए पाते हैं और वह 'कुछ' भी लोक-व्यवहार के अंतर्गत है, उसके बाहर नहीं। मान अपमान से परे साधक होना संतों के लिये तो वे "खल के वचन संत सहैं जैसे" कहते हैं, पर साधारण गृहस्थों के लिये सहिष्णुता की मर्य्यादा बाँधते हुए कहते हैं कि "कतहुँ सुधाइहु तें बड़ दोषू"। साधक और संसारी दोनों के

मार्गों की ओर वे संकेत करते हैं। व्यक्तिगत सफलता के लिये जिसे लोग "नीति" कहते हैं, सामाजिक आदर्श की सफलता का साधक होकर वही "धर्म" हो जाता है।

सारांश यह कि गोस्वामी जी से पूर्व तीन प्रकार के साधु समाज के बीच रमते दिखाई देते थे। एक तो प्राचीन परम्परा के भक्त जो प्रेम में मग्न होकर संसार को भूल रहे थे; दूसरे वे जो अनधिकार ज्ञानगोष्ठी द्वारा समाज के प्रतिष्ठित आदर्शों के प्रति तिरस्कार-बुद्धि उत्पन्न कर रहे थे; और तीसरे वे जो हठयोग,*रसायन आदि द्वारा अलौकिक सिद्धियों की व्यर्थ आशा का प्रचार कर रहे थे। इन तीनों वर्गों के द्वारा साधारण जनता के लोक-धर्म पर आरूढ़ होने की संभावना कितनी दूर थी, यह कहने की आवश्यकता नहीं। आज जो हम फिर झोंपड़ों में बैठे किसानों को भरत के "भायप भाव" पर, लक्ष्मण के त्याग पर, राम की पितृभक्ति पर पुलकित होते हुए पाते हैं, वह गोस्वामी जी के ही प्रसाद से। धन्य है गार्हस्थ्य-जीवन में धर्मालोक-स्वरूप रामचरित और धन्य हैं उस आलोक को घर घर पहुँचानेवाले तुलसीदास। व्यावहारिक जीवन धर्म की ज्योति से एक बार फिर जगमगा उठा—उसमें नई शक्ति का संचार हुआ। जो कुछ भी नहीं जानता, वह भी यह जानता है कि—

> जे न मित्र दुख होहिं दुखारी।
> तिनहिं बिलोकत पातक भारी॥

स्त्रियाँ और कोई धर्म जानें, या न जानें, पर वे वह धर्म जानती हैं जिससे संसार चलता है। उन्हें इस बात का विश्वास रहता है कि—

> वृद्ध, रोगबस, जड़, धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥
> ऐसेहु पति कर किए अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥

---

* गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग, निगम नियोग ते सो केलि ही छरो सो है।—कवितावली।

जिसमें बाहुबल है उसे यह समझ भी पैदा हो गई है कि दुष्ट और अत्याचारी 'पृथ्वी के भार' हैं; उस भार को उतारनेवाले भगवान् के अवतार हैं और उस भार को उतारने में सहायता पहुँचानेवाले भगवान् के सच्चे सेवक हैं। प्रत्येक देहाती लठैत 'बजरंगबली' की जयजयकार मनाता है—कुंभकर्ण की नहीं। गोस्वामी जी ने "रामचरित-चिंतामणि" को छोटे बड़े सब के बीच बाँट दिया जिसके प्रभाव से हिंदू-समाज यदि चाहे—सच्चे जी से चाहे—तो सब कुछ प्राप्त कर सकता है।

भक्ति और प्रेम के पुटपाक द्वारा धर्म को रागात्मिका वृत्ति के साथ सम्मिश्रित करके बाबा जी ने एक ऐसा रसायन तैयार किया जिसके सेवन से धर्म-मार्ग में कष्ट और श्रांति न जान पड़े, आनंद और उत्साह के साथ लोग आपसे आप उसकी ओर प्रवृत्त हों, धर-पकड़ और ज़बरदस्ती से नहीं। जिस धर्ममार्ग में कोरे उपदेशों से कष्ट ही कष्ट दिखाई पड़ता है, वह चरित्र-सौंदर्य्य के साक्षात्कार से आनंदमय हो जाता है। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति और निवृत्ति की दिशा को लिए हुए धर्म की जो लीक निकलती है, लोगों के चलते चलते चौड़ी होकर वही सीधा राजमार्ग हो सकती है; जिसके संबंध में गोस्वामी जी कहते हैं—

"गुरु कह्यो राम-भजन नीको मोहिं लागत राजडगरो सो।"

धर्म और जातीयता का समन्वय

गोस्वामीजी द्वारा प्रस्तुत नवरसों का रामरसायन ऐसा पुष्टिकर हुआ कि उसके सेवन से हिंदू जाति विदेशीय मतों के आक्रमणों से भी बहुत कुछ रक्षित रही और अपने जातीय-स्वरूप को भी दृढ़ता से पकड़े रही। उसके भगवान् जीवन की प्रत्येक स्थिति में—खेलने कूदने में, हँसने रोने में, लड़ने भिड़ने में, नाचने गाने में, बालकों की क्रीड़ा में, दाम्पत्य प्रेम में, राज्य-संचालन में, आज्ञापालन में, आनंदो-

त्सव में, शोक-समाज में, सुख-दुःख में, घर में, संपत्ति में, विपत्ति में—उसे दिखाई पड़ते हैं। विवाह आदि शुभ अवसरों पर तुलसी-रचित राम के मंगल-गीत गाए जाते हैं, विमाताओं की कुटिलता के प्रसंग में कैकेयी की कहानी कही जाती है, दुःख के दिनों में राम का वनवास स्मरण किया जाता है, वीरता के प्रसंग में उनके धनुष की भीषण टंकार सुनाई पड़ती है; सारांश यह कि सारा हिंदू-जीवन राम-मय प्रतीत होता है। वेदान्त का परमार्थ तत्त्व समझने की सामर्थ्य न रखनेवाले साधारण लोगों को भी व्यवहार-क्षेत्र में चारों ओर राम ही राम दिखाई देते हैं। इस प्रकार राम के स्वरूप का पूर्ण सामंजस्य हिंदू-हृदय के साथ कर दिया गया है। इस साहचर्य्य से राम के प्रति जो भाव साधारण जनता में प्रतिष्ठित हो गया है, उसका लावण्य उसके संपूर्ण जीवन का लावण्य हो गया है। राम के विना हिंदू-जीवन नीरस है—फीका है। यही रामरस उसका स्वाद वनाए रहा और वनाए रहेगा। राम ही का मुँह देख हिंदू-जनता का इतना बड़ा भाग अपने धर्म और जाति के घेरे में पड़ा रहा। न उसे तलवार हटा सकी, न धन-मान का लोभ, न उपदेशों की तड़क भड़क। जिन राम को जनता जीवन की प्रत्येक स्थिति में देखती आई, उन्हें छोड़ना अपने प्रिय से प्रिय परिजन को छोड़ने से कम कष्ट-कर न था। विदेशी कच्चा रंग एक चढ़ा एक छूटा, पर भीतर जो पक्का रंग था वह बना रहा। हमने चौड़ी मोहरी का पायजामा पहना, आदाब अर्ज़ किया, पर 'राम राम' न छोड़ा। अब कोट पतलून पहनकर बाहर "डैम नान्सेंस" कहते हैं, पर घर में आते ही फिर वही 'राम राम'। शीरीं-फ़रहाद और हातिमताई के क़िस्से के सामने हम कर्ण, युधिष्ठिर, नल, दमयंती सब को भूल गए थे, पर राम-चर्चा कुछ करते रहे। कहना न होगा कि इस एक को न छोड़ने से एक प्रकार से सब कुछ बना रहा; क्योंकि इसी एक नाम में हिंदू-जीवन का सारासार खींच-

कर रख दिया गया था। इसी एक नाम के अवलंब से हिंदू जाति के लिये अपने प्राचीन स्वरूप, अपने प्राचीन गौरव के स्मरण की संभावना बनी रही। रामनामामृत पान करके हिंदू-जाति अमर हो गई। इस अमृत को घर घर पहुँचानेवाला भी अमर है। आज जो हम बहुत से 'भारतीय हृदयों' को चीरकर देखते हैं, तो वे अभारताय निकलते हैं। पर एक इसी कवि-केसरी को भारतीय सभ्यता भारतीय रीति-नीति की रक्षा के लिये सबके हृदय-द्वार पर अड़ा देख हम निराश होने से बच जाते हैं।

मंगलाशा

शुद्ध आत्म-पक्ष के विचार से दुःखवाद स्वीकार करते हुए भी, साधकों के लिये ज्ञानद्वारा उस दुःख की निवृत्ति मानते हुए भी, वे लोक के कल्याण के पूरे प्रयासी थे। लोक के मंगल की आशा से उनका हृदय परिपूर्ण और प्रफुल्ल था। इस आशा का आधार थी वह मंगलमयी ज्योति जो धर्म के रूप में जगत् की प्रातिभासिक सत्ता के भीतर आनंद का आभास देती है, और उसकी रक्षा द्वारा सत् का—अपने नित्यत्व का—बोध कराती है। लोक की रक्षा 'सत्' का आभास है, लोक का मंगल 'परमानंद' का आभास है। इस व्यावहारिक 'सत्' और 'आनंद' का प्रतीक है "रामराज्य" जिसमें उस मर्य्यादा की पूर्ण प्रतिष्ठा है जिसके उल्लंघन से इस सत् और आनंद का आभास भी व्यवधान में पड़ जाता है। पर यह व्यवधान सब दिन नहीं रह सकता। अन्त में सत् अपना प्रकाश करता है, इस बात का पूर्ण विश्वास तुलसीदास जी ने प्रकट किया है। इस व्यवधान-काल का निरीक्षण लोक की वर्तमान दशा के रूप में वे अत्यंत भय और आकुलता के साथ इस प्रकार करते हैं—

प्रभु के बचन बेद-बुध-सम्मत मम मूरति महिदेव-मई है।
तिन्हकी मति, रिस, राग, मोह, मद लोभ लालची लीलि लई है॥

राज समाज कुसाज, कोटि कटु कलपत कलुष कुचाल नई है।
नीतिप्रतीति प्रीति परिमिति पति हेतुवाद हठि हेरि हई है ॥
आश्रम-बरन-धरम-बिरहित जग, लोक-बेद मरजाद गई है।
प्रजा पतित पाखंड-पापरत, अपने अपने रंग रई है ॥
सांति सत्य सुभ रीति गई घटि, बढ़ी कुरीति कपट-कलई है।
सीदत साधु, साधुता सोचति, खल बिलसत, हुलसति खलई है ॥

पर इस भीषण दृश्य से गोस्वामी जी निराश नहीं होते। सच्चे भक्त के हृदय में नैराश्य कहाँ ? जिसे धर्म की शक्ति पर, धर्म-स्वरूप भगवान् की अनंत करुणा पर पूर्ण विश्वास है, नैराश्य का दुःख उसके पास नहीं फटक सकता। अतः गोस्वामी जी रामराज्य स्थापन करने के लिये राम से विनती करते हैं—

"दीजै दादि देखि नातो बलि मही मोद-मंगल-रितई है।"
प्रार्थना के साथ ही अपने विश्वास के बल पर वे मान लेते हैं कि प्रार्थना सुन ली गई, "रामराज्य" हो गया, लोक में फिर मंगल छा गया—

भरे भाग अनुराग लोग कहैं राम अवध चितवनि चितई है।
बिनती सुनि सानंद हेरि हँसि करुना-बारि भूमि भिजई है ॥
रामराज भयो काज सगुन सुभ राजा राम-जगत बिजई है।
समरथ बड़ो सुजान सुसाहब सुकृत-सेन हारत जितई है ॥

लोक में जब जब सुकृत की सेना हारने लगेगी, अधर्म की सेना प्रबल पड़ती दिखाई देगी, तब तब भगवान् अपनी शक्ति का; धर्म-बल का, लोकबल का प्रकाश करेंगे, ऐसा विश्वास सच्चे भक्त को रहता है। अतः आशा और आनंद से उसका हृदय परिपूर्ण रहता है।

लोक-नीति और मर्य्यादावाद

गोस्वामी जी का समाज का आदर्श वही है जिसका निरूपण वेद, पुराण, स्मृति आदि में है; अर्थात् वर्णाश्रम की पूर्ण प्रतिष्ठा।

प्रोत्साहन और प्रतिबंध द्वारा मन, वचन और कर्म को व्यवस्थित रखनेवाला तत्त्व धर्म है जो दो प्रकार का है—साधारण और विशेष। मनुष्य मात्र का मनुष्य मात्र के प्रति जो सामान्य कर्त्तव्य होता है, उसके अतिरिक्त स्थिति या व्यवसाय-विशेष के अनुसार भी मनुष्य के कुछ कर्तव्य होते हैं। जैसे माता पिता के प्रति पुत्र का, पुत्र के प्रति पिता का, राजा के प्रति प्रजा का, गुरु के प्रति शिष्य का, ग्राहक के प्रति दूकानदार का, छोटों के प्रति बड़ों का इत्यादि इत्यादि। ज्यों ज्यों सभ्यता बढ़ी है, समाज में वर्णविधान हुआ है, त्यों त्यों इन धर्मों का विस्तार होता गया है। पारिवारिक जीवन में से निकलकर समाज में जाकर उनकी अनेक रूपों में प्रतिष्ठा हुई है। संसार के और देशों में जो मत प्रवर्तित हुए, उनमें 'साधारण धर्म' का ही पूर्ण समावेश हो सका, विशेष धर्मों की बहुत कम व्यवस्था हुई। पर सरस्वती और दृशद्वती के तटों पर पल्लवित आर्य्य सभ्यता के अन्तर्गत जिस धर्म का प्रकाश हुआ, विशेष धर्मों की विस्तृत व्यवस्था उसका लक्षण हुआ और वह वर्णाश्रम धर्म कहलाया। उसमें लोकसंचालन के लिये ज्ञानबल, बाहुबल, धनबल और सेवाबल का सामंजस्य घटित हुआ जिसके अनुसार केवल कर्मों की ही नहीं, वाणी और भाव की भी व्यवस्था की गई। जिस प्रकार ब्राह्मण के धर्म पठन-पाठन, तत्वचिंतन, यज्ञादि हुए, उसी प्रकार शांत और मृदु वचन तथा उपकार-बुद्धि, नम्रता, दया, क्षमा आदि भावों का अभ्यास भी। क्षत्रियों के लिये जिस प्रकार शस्त्र-ग्रहण धर्म हुआ, उसी प्रकार जनता की रक्षा, उसके दुःख से सहानुभूति आदि भी। और वर्णों के लिये जिस प्रकार अपने नियत व्यवसायों का संपादन कर्तव्य ठहराया गया, उसी प्रकार अपने से ऊँचे कर्तव्यवालों अर्थात् लोकरक्षा द्वारा भिन्न भिन्न व्यवसायों का अवसर देनेवालों के प्रति आदर-सम्मान का भाव भी। वचन-व्यवस्था और भाव-व्यवस्था के बिना कर्म-व्यवस्था निष्फल होती। हृदय का योग जब तक न होगा,

तब तक न कर्म सच्चे होंगे, न अनुकूल वचन निकलगे। परिवार में जिस प्रकार ऊँची नीची श्रेणियाँ होती हैं, उसी प्रकार शील, विद्या-बुद्धि, शक्ति आदि की विचित्रता से समाज में भी नीची ऊँची श्रेणियाँ रहेंगी। कोई आचार्य होगा कोई शिष्य, कोई राजा होगा कोई प्रजा, कोई अफसर होगा कोई मातहत, कोई सिपाही होगा कोई सेनापति। यदि बड़े छोटों के प्रति दुःशील होकर हर समय दुर्वचन कहने लगें, यदि छोटे बड़ों का आदर-सम्मान छोड़कर उन्हें आँख दिखाकर डाँटने लगें तो समाज चल ही नहीं सकता। इसी से शूद्रों का द्विजों को आँख दिखाकर डाँटना, मूर्खों का विद्वानों का उपहास करना गोस्वामी जी को समाज की धर्म-शक्ति का ह्रास समझ पड़ा।

ब्राह्मणों की मति को 'मोह, मद, रिस, राग और लोभ' यदि निगल जायँ, राजसमाज यदि नीतिविरुद्ध आचरण करने लगे, शूद्र यदि ब्राह्मणों को आँख दिखाने लगें, अर्थात् अपने अपने धर्म से समाज की सब श्रेणियाँ च्युत हो जायँ, तो फिर से लोकधर्म की स्थापना कौन कर सकता है? गोस्वामी जी कहते हैं 'राज्य' 'सुराज्य' 'रामराज्य'। राज्य की कैसी व्यापक भावना है! आदर्श राज्य केवल बाहर बाहर कर्मों का प्रतिबंधक और उत्तेजक नहीं है, हृदय को स्पर्श करनेवाला है, उसमें लोकरक्षा के अनुकूल भावों की प्रतिष्ठा करनेवाला है। यह धर्मराज्य है—इसका प्रभाव जीवन के छोटे बड़े सब व्यापारों तक पहुँचनेवाला है, समस्त मानवी-प्रकृति का रंजन करनेवाला है। इस राज्य की स्थापना केवल शरीर पर ही नहीं होती, हृदय पर भी होती है। यह राज्य केवल चलती हुई जड़ मशीन नहीं है—आदर्श व्यक्ति का परिवर्धित रूप है। इसे जिस प्रकार हाथ पैर हैं, उसी प्रकार हृदय भी है, जिसकी रमणीयता के अनुभव से प्रजा आप से आप धर्म की ओर प्रवृत्त होती है। राम-राज्य में—

बयरु न करु काहू सन कोई । राम-प्रताप विषमता खोई ॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती । चलहिं स्वधर्म निरत स्रुति-रीती ।

लोग जो वैर छोड़कर परस्पर प्रीति करने लगें, वह क्या राम के 'बाहुबल के प्रताप से', दंडभय से ? दंडभय से लोग इतना ही कर सकते हैं कि किसी को मारें-पीटें नहीं; यह नहीं कि किसी से मन में भी वैर न रखें, सब से प्रीति रखें । सुशीलता की पराकाष्ठा राम के रूप में हृदयाकर्षिणी शक्ति होकर उनके बीच प्रतिष्ठित थी । उस शक्ति के सम्मुख प्रजा अपने हृदय की सुंदर वृत्तियों को कर-स्वरूप समर्पित करती थी । केवल अर्जित वित्त के प्रदान द्वारा अर्थशक्ति खड़ी करने से समाज को धारण करनेवाली पूर्ण शक्ति का विकास नहीं हो सकता । भारतीय सभ्यता के बीच राजा धर्मशक्तिस्वरूप है, पारस और बाबुल के बादशाहों के समान केवल धनबल और बाहुबल की पराकाष्ठा मात्र नहीं । यहाँ राजा सेवक और सेना के होते हुए भी शरीर से अपने धर्म का पालन करता हुआ दिखाई पड़ता है । यदि प्रजा की पुकार संयोग से उसके कान में पड़ती है, तो वह आप-ही रक्षा के लिये दौड़ता है; ज्ञानी महात्माओं को सामने देख सिंहासन छोड़कर खड़ा हो जाता है; प्रतिज्ञा के पालन के लिये शरीर पर अनेक कष्ट झेलता है; स्वदेश की रक्षा के लिये रणक्षेत्र में सब से आगे दिखाई पड़ता है; प्रजा के सुख दुःख में साथी होता है; ईश्वरांश माने जाने पर भी मनुष्यांश नहीं छोड़ता । वह प्रजा के जीवन से दूर बैठा हुआ, उसमें किसी प्रकार का योग न देनेवाला खिलौना या पुतला नहीं है । प्रजा अपने सब प्रकार के उच्च भावों का—त्याग का, शील का, पराक्रम का, सहिष्णुता का, क्षमा का—प्रतिबिंब उसमें देखती है ।

राजा के पारिवारिक और व्यावहारिक जीवन को देखने की मजाल प्रजा को थी—देखने की ही नहीं, उस पर टीका-टिप्पणी करने की भी । राजा अपने पारिवारिक जीवन में भी यदि कोई ऐसी

बात पावे जो प्रजा को देखने में अच्छी न लगती हो, तो उसका सुधार आदर्श-रक्षा के लिये कर्त्तव्य माना जाता था। सती सीता के चरित्र पर दोषारोप करनेवाले धोबी का सिर नहीं उड़ाया गया; घोर मानसिक व्यथा सहकर भी उस दोष के परिहार का यत्न किया गया। सारांश यह कि माता, पिता, सेवक और सखा के साथ भी जो व्यवहार राजा का हो, वह ऐसा हो जिसकी उच्चता को देख प्रजा प्रसन्न हो, धन्य धन्य कहे। जिस प्रीति और कृतज्ञता के साथ महाराज रामचंद्र ने सुग्रीव, विभीषण और निषाद आदि को विदा किया, उसे देख प्रजा गद्गद हो गई—

रघुपति चरित देखि पुरवासी। पुनि पुनि कहहिं धन्य सुखरासी॥

राजा की शील-शक्ति के प्रभाव के वर्णन में गोस्वामी जी ने कवि-प्रथा के अनुसार कुछ अतिशयोक्ति भी की ही है—

फूलहिं फलहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक सँग गज पंचानन॥
खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई॥

काव्य-पद्धति से परिचित इसे पढ़कर कभी यह सवाल नहीं करेंगे कि मृगों का मारना छोड़ सिंह क्या घास खाकर जीते थे?

देखिए, राजकुल की महिलाओं के इस उच्च आदर्श का प्रभाव जनता के पारिवारिक जीवन पर कैसा सुखद पड़ सकता है—

जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। बिपुल सकल सेवा-बिधि गुनी॥
निज कर गृहपरिचरजा करई। रामचंद्र आयसु अनुसरई॥

जिस वर्णाश्रम धर्म का पालन प्रजा करती थी, उसमें ऊँची-नीची श्रेणियाँ थीं; उसमें कुछ काम छोटे माने जाते थे, कुछ बड़े। फावड़ा लेकर मिट्टी खोदनेवाले और कलम लेकर वेदांतसूत्र लिखने-वाले के काम एक ही कोटि के नहीं माने जाते थे। ऐसे दो काम अब भी एक दृष्टि से नहीं देखे जाते। लोक-दृष्टि उनमें भेद कर ही लेती है। इस भेद को किसी प्रकार की चिकनी चुपड़ी भाषा या पाखंड नहीं मिटा सकता। इस भेद के रहते भी—

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद-पथ लोग ।
चलहिं सदा पावहिं सुख नहिं भय सोक न रोग ॥

छोटे समझे जानेवाले काम करनेवाले बड़े काम करनेवालों को ईर्ष्या और द्वेष की दृष्टि से क्यों नहीं देखते थे ? वे यह क्यों नहीं कहते थे कि 'हम क्यों फावड़ा चलावें, क्यों दूकान पर बैठें ? भूमि के अधिकारी क्यों न बनें ? गद्दी लगाकर धर्म-सभा में क्यों न बैठें ?' समाज को अव्यवस्थित करनेवाले इस भाव को रोकनेवाली पहली बात तो थी समाज के प्रति कर्त्तव्य के भार का नीची श्रेणियों में जाकर क्रमशः कम होना। ब्राह्मणों और क्षत्रियों को लोकहित के लिये अपने व्यक्तिगत सुख को हर घड़ी त्याग करने के लिये तैयार रहना पड़ता था। ब्राह्मणों को तो सदा अपने व्यक्तिगत सांसारिक सुख की मात्रा कम रखनी पड़ती थी। क्षत्रियों को अवसर विशेष पर अपना सर्वस्व-अपने प्राण तक-छोड़ने के लिये उद्यत होना पड़ता था। शेष वर्गों को अपने व्यक्तिगत या पारिवारिक सुख की व्यवस्था के लिये सब अवस्थाओं में पूरा अवकाश रहता था। अतः उच्च वर्गों में अधिक मान या अधिक अधिकार के साथ अधिक कठिन कर्त्तव्यों की योजना और निम्न वर्गों में कम मान और कम सुख के साथ अधिक अवस्थाओं में आराम की योजना जीवन-निर्वाह की दृष्टि से स्थिति में सामंजस्य रखती थी।

जब तक उच्च श्रेणियों के कर्त्तव्य की कठिनता प्रत्यक्ष रहेगी— कठिनता के साक्षात्कार के अवसर आते रहेंगे—तब तक नीची श्रेणियों में ईर्ष्या-द्वेष का भाव नहीं जाग्रत हो सकता। जब तक वे क्षत्रियों को अपने चारों ओर धनजन की रक्षा में तत्पर देखेंगे, ब्राह्मणों को ज्ञान की रक्षा और वृद्धि में सब कुछ त्यागकर लगे हुए पावेंगे, तब तक वे अपना सब कुछ उन्हीं की बदौलत समझेंगे और उनके प्रति उनमें कृतज्ञता श्रद्धा और मान का भाव बना रहेगा।

जब कर्त्तव्य-भाग शिथिल पड़ेगा और अधिकार-भाग ज्यों का त्यों रहेगा, तब स्थिति-विघातिनी विषमता उत्पन्न होगी। ऊँची श्रेणियों के अधिकार-प्रयोग में ही प्रवृत्त होने से नीची श्रेणियों को क्रमशः जीवन-निर्वाह में कठिनता दिखाई देगी। वर्ण-व्यवस्था की छोटाई-बड़ाई का यह अभिप्राय नहीं था कि छोटी श्रेणी के लोग दुःख ही में समय काटें और जीवन के सारे सुभीते बड़ी श्रेणी के लोगों को ही रहें। रामराज्य में सब अपनी स्थिति में प्रसन्न थे—

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन-हीना॥
सब निर्दंभ धरमरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी। सब कृतग्य नहिं कपट सयानी॥

इतनी बड़ी जनता के पूर्ण सुख की व्यवस्था साधारण परिश्रम का काम नहीं है; पर राजा के लिये वह आवश्यक है—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥

ऊँची श्रेणियों के कर्त्तव्य की पुष्ट व्यवस्था न होने से ही यारप में नीची श्रेणियों में ईर्ष्या, द्वेष और अहंकार का प्राबल्य हुआ जिससे लाभ उठाकर 'लेनिन' इस समय महात्मा बना हुआ है। समाज की ऐसी वृत्तियों पर स्थित 'माहात्म्य' का स्वीकार घोर अमंगल का सूचक है। मूर्ख जनता के इस माहात्म्य-प्रदान पर न भूलना चाहिए, यह बात गोस्वामी जी साफ़ साफ़ कहते हैं—

तुलसी भेड़ी की धँसनि, जड़ जनता-सनमान।
उपजत ही अभिमान भो, खोवत मूढ़ अपान॥

जड़ जनता के सम्मान का पात्र वही होगा जो उसके अनुकूल कार्य्य करेगा। ऐसा कार्य्य लोकमंगलकारी कभी नहीं हो सकता। जनता के किसी भाग की दुर्वृत्तियों के सहारे जो व्यवस्था स्थापित होगी, उसमें गुण, शील, कलाकौशल, बलबुद्धि के असामान्य उत्कर्ष

की संभावना कभी नहीं रहेगी, प्रतिभा का विकास कभी नहीं होगा। रूस से भारी भारी विद्वानों और गुणियों का भागना इस बात का आभास दे रहा है। अल्पशक्तिवालों की अहंकार-वृत्ति को तुष्ट करनेवाला 'साम्य' शब्द ही उत्कर्ष का विरोधी है। उत्कर्ष विशेष परिस्थिति में होता है। परिस्थिति विशेष के अनुरूप किसी वर्ग में विशेषता का प्रादुर्भाव ही उत्कर्ष या विकास कहलाता है, इस बात को आजकल के विकासवादी भी अच्छी तरह जानते हैं। इस उत्कर्ष का विरोधी साम्य जहाँ हो, उसे हमारे यहाँ के लोग 'अंधेर नगरी' कहते आए हैं।

गोस्वामी जी ने कलिकाल का जो चित्र खींचा है, वह उन्हींके समय का है। उसमें उन्होंने 'साधारण धर्म' और 'विशेष धर्म' दोनों का ह्रास दिखाया है। साधारण धर्म के ह्रास की निंदा तो सब को अच्छी लगती है, पर विशेष धर्म के ह्रास की निंदा—समाज-व्यवस्था के उल्लंघन की निंदा—आजकल की अव्यवस्था को अपने महत्व का द्वार समझनेवाले कुछ लोगों को नहीं सुहाती। वे इन चौपाइयों में तुलसीदास जी की संकीर्ण-हृदयता देखते हैं—

निराचार जो श्रुतिपथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी वैरागी॥
सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ग्याना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना॥
जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा॥
नारि मुई घर संपति नासी। मूँड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी॥
ते विप्रन सन पाँव पुजावहिं। उभय लोक निज हाथ नसावहिं॥
सूद्र करहिं जप तप व्रत दाना। बैठि बरासन कहहिं पुराना॥

पर इसी प्रसंग में गोस्वामी जी के इस कथन को वे बड़े आनंद से स्वीकार करते हैं—

विप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ वृषली स्वामी॥

गोस्वामी जी कट्टर मर्य्यादावादी थे, यह पहले कहा जा चुका है। मर्य्यादा का भंग वे लोक के लिये मंगलकारी नहीं समझते थे।

मर्य्यादा का उल्लंघन देखकर ही बलराम जी वरासन पर बैठकर पुराण कहते हुए सूत पर हल लेकर दौड़े थे। शूद्रों के प्रति यदि धर्म और न्याय का पूर्ण पालन किया जाय, तो गोस्वामी जी उनके कर्म को ऐसा कष्टप्रद नहीं समझते थे कि उसे छोड़ना आवश्यक हो। यह पहले कहा जा चुका है कि वर्ण-विभाग केवल कर्म-विभाग नहीं है, भाव-विभाग भी है। श्रद्धा, भक्ति, दया, क्षमा आदि उदात्त वृत्तियों के नियमित अनुष्ठान और अभ्यास के लिये भी वे समाज में छोटी बड़ी श्रेणियों का विधान आवश्यक समझते थे। इन भावों के लिये आलंबन ढूँढ़ना एक दम व्यक्ति के ऊपर ही नहीं छोड़ा गया था। इनके आलंबनों की प्रतिष्ठा समाज ने कर दी थी। समाज में बहुत से ऐसे अनुन्नत अंतःकरण के प्राणी होते हैं, जो इन आलंबनों को नहीं चुन सकते। अतः उन्हें स्थूल रूप से यह बता दिया गया कि अमुक वर्ग यह कार्य्य करता है, अतः वह तुम्हारी दया का पात्र है; अमुक वर्ग इस कार्य्य के लिये नियत है, अतः वह तुम्हारी श्रद्धा का पात्र है। यदि उच्च वर्ग का कोई मनुष्य अपने धर्म से च्युत है, तो उसकी विगर्हणा, उसके शासन और उसके सुधार का भार राज्य के या उसके वर्ग के ऊपर है, निम्न वर्ग के लोगों पर नहीं। अतः लोक-मर्य्यादा की दृष्टि से निम्न वर्ग के लोगों का धर्म यही है कि उस पर श्रद्धा का भाव रखें; न रख सकें तो कम से कम प्रकट करते रहें। इसे गोस्वामी जी का Social discipline समझिए। इसी भाव से उन्होंने कहा है—

पूजिय विप्र सील-गुन-हीना। सूद्र न गुनगम ग्यान प्रवीना॥

जिसे कुछ लोग उनका जातीय पक्षपात समझते हैं। जातीय पक्षपात से उस विरक्त महात्मा से क्या मतलब जो कहता है—

लोग कहैं पोंचु सो न सोचु न सँकोचु मेरे,
ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौं।

काकभुशुंडि की जन्मांतरवाली कथा द्वारा गोस्वामी जी ने प्रकट

कर दिया है कि लोक-मर्य्यादा और शिष्टता के उल्लंघन को वे कितना बुरा समझते थे। काकभुशुंडि अपने शूद्र-जन्म की बात कहते हैं—

एक बार हरि-मंदिर जपत रहेउँ सिव नाम।
गुरु आएउ अभिमान तें उठि नहिं कीन्ह प्रनाम॥
गुरु दयालु नहिं कछु कहेउ उर न रोष लवलेस।
अति अघ गुरु अपमानता सहि नहिं सके महेस॥
मंदिर माँझ भई नभ बानी। रे हतभाग्य अग्य अभिमानी॥
जद्यपि तव गुरु के नहिं क्रोधा। अति कृपालु उर सम्यक बोधा॥
तदपि साप हठि देइहउँ तोहीं। नीति-बिरोध सुहाइ न मोहीं॥
जौ नहिं दंड करौं सठ तोरा। भ्रष्ट होइ स्रुति-मारग मोरा॥

श्रुति-प्रतिपादित लोकनीति और समाज के सुख का विधान करनेवाली शिष्टता के ऐसे भारी समर्थक होकर वे अशिष्ट संप्रदायों की उच्छृंखलता, बड़ों के प्रति उनकी अवज्ञा चुपचाप कैसे देख सकते थे?

ब्राह्मण और शूद्र, छोटे और बड़े के बीच कैसा व्यवहार वे उचित समझते थे, यह चित्रकूट में वशिष्ठ और निषाद के मिलने में देखिए—

प्रेमपुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि तें दंड प्रनामू॥
रामसखा ऋषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा॥

केवट अपनी छोटाई के विचार से वशिष्ठ ऐसे ऋषीश्वर को दूर ही से प्रणाम करता है, पर ऋषि अपने हृदय की उच्चता का परिचय देकर उसे बार बार गले लगाते हैं। वह हटता जाता है, वे उसे 'बरबस' भेंटते हैं। इस उच्चता से किस नीच को द्वेष हो सकता है? यह उच्चता किसे खलनेवाली हो सकती है?

काकभुशुंडि-वाले मामले में शिव जी ने शाप देकर लोकमत की रक्षा की और काकभुशुंडि के गुरु ने कुछ न कहकर साधुमत*

---

* उमा संत कै इहै बड़ाई। मंद करत जो करहिं भलाई॥

का अनुसरण किया। साधुमत का अनुसरण व्यक्तिगत साधन है, लोकमत लोकशासन के लिये है। इन दोनों का सामंजस्य गोस्वामी जी की धर्मभावना के भीतर है। चित्रकूट में भरत की ओर से वशिष्ठ जी जब सभा में प्रस्ताव करने उठते हैं, तब राम से कहते हैं—

भरत बिनय सादर सुनिय करिय विचार बहोरि।
करब साधुमत, लोकमत नृपनय निगम निचोरि॥

अब तक जो कुछ कहा गया, उससे गोस्वामी जी व्यक्तिवाद (Individualism) के विरोधी और लोकवाद (Socialism) के समर्थक से लगते हैं। व्यक्तिवाद के विरुद्ध उनकी ध्वनि स्थान स्थान पर सुनाई पड़ती है; जैसे—

(क) मारग सोइ जा कहँ जो भावा।

(ख) स्वारथ-सहित सनेह सब, रुचि-अनुहरत अचार।

पर उनके लोकवाद की भी मर्यादा है। उनका लोकवाद वह लोकवाद नहीं है, जिसका अकांड तांडव रूस में हो रहा है। वे व्यक्ति की स्वतंत्रता का हरण नहीं चाहते जिसमें व्यक्ति इच्छानुसार हाथ-पैर भी न हिला सके; अपने श्रम, शक्ति और गुण का अपने लिये कोई फल ही न देख सके। वे व्यक्ति के आचरण का इतना ही प्रतिबंध चाहते हैं जितने से दूसरों के जीवन-मार्ग में बाधा न पड़े और हृदय की उदात्त वृत्तियों के साथ लौकिक संबंधों का सामंजस्य बना रहे। राजा-प्रजा, उच्च-नीच, धनी-दरिद्र, सबल-निर्बल, शास्य-शासक, मूर्ख-पंडित, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र इत्यादि भेदों के कारण जो अनेक रूपात्मक संबंध प्रतिष्ठित हैं, उनके निर्वाह के अनुकूल मन (भाव), वचन और कर्म की व्यवस्था ही उनका लक्ष्य है; क्योंकि इन संबंधों के सम्यक् निर्वाह से ही वे सब का कल्याण मानते हैं। इन संबंधों की उपेक्षा करनेवाले व्यक्ति-प्राधान्य-वाद के वे अवश्य विरोधी हैं।

समाज के इस आदर्श व्यवस्था के बीच स्त्रियों और शूद्रों का स्थान क्या है, आजकल के सुधारक इसका पता लगाना बहुत ज़रूरी समझेंगे। उन्हें यह जानना चाहिए कि तुलसीदास जी कट्टर मर्य्यादावादी थे, कार्य्यक्षेत्रों के प्राचीन विभाग के पूरे समर्थक थे। पुरुषों की अधीनता में रहकर गृहस्थी का कार्य्य सँभालना ही वे स्त्रियों के लिये बहुत समझते थे। उन्हें घर के बाहर निकालनेवाली स्वतंत्रता को वे बुरा समझते थे। पर यह भी समझ रखना चाहिए कि 'जिमि स्वतंत्र होइ बिगरहिं नारी' कहते समय उनका ध्यान ऐसी ही स्त्रियों पर था जैसी कि साधारणतः पाई जाती हैं, गार्गी और मैत्रेयी की ओर नहीं। उन्हें गार्गी और मैत्रेयी बनाने की चिंता उन्होंने कहीं प्रकट नहीं की है। हाँ, भक्ति का अधिकार जैसे सब को है, वैसे ही उनको भी। मीराबाई को लिखा हुआ जो पद (विनय का) कहा जाता है, उससे प्रकट होता है कि 'भक्तिमार्ग' में सब को उत्साहित करने के लिये वे तैयार रहते थे। इसमें वे किसी बात को रिआयत नहीं रखते थे। रामभक्ति में यदि परिवार या समाज बाधक हो रहा है, तो उसे छोड़ने की राय वे बेधड़क देंगे—पर उन्हीं को जिन्हें वे भक्तिमार्ग में पक्का समझेंगे। सब स्त्रियाँ घरों से निकलकर वैरागियों की सेवा में लग जायँ, यह अभिप्राय उनका कदापि नहीं। स्त्रियों के लिये साधारण उपदेश उनका वही समझना चाहिए जो 'ऋषि-वधू' ने 'सरल मृदु बानी' से सीता जी को दिया था।

उन पर स्त्रियों की निंदा का महापातक लगाया जाता है; पर यह अपराध उन्होंने अपनी विरति की पुष्टि के लिये किया है। उसे उनका वैरागीपन समझना चाहिए। सब रूपों में स्त्रियों की निंदा उन्होंने नहीं की है। केवल प्रमदा या कामिनी के रूप में, दांपत्य-रति के आलंबन के रूप में, की है;—माता, पुत्री, भगिनी आदि के रूप में नहीं। इससे सिद्ध है कि स्त्री-जाति के प्रति उन्हें कोई द्वेष

नहीं था। अतः उक्त रूप में स्त्रियों की जो निंदा उन्होंने की है, वह अधिकतर तो अपने ऐसे और विरक्तों के वैराग्य को दृढ़ करने के लिये; और कुछ लोक की अत्यंत आसक्ति को कम करने के विचार से। उन्होंने प्रत्येक श्रेणी के मनुष्यों के लिये कुछ न कुछ कहा है। उनकी कुछ बातें तो विरक्त साधुओं के लिये हैं, कुछ साधारण गृहस्थों के लिये, कुछ विद्वानों और पंडितों के लिये। अतः स्त्रियों को जो स्थान स्थान पर बुरा कहा है, उसका ठीक तात्पर्य यह नहीं कि वे सचमुच वैसी ही होती हैं; बल्कि यह मतलब है कि उनमें आसक्त होने से बचने के लिये उन्हें वैसा ही मान लेना चाहिए। किसी वस्तु से विरक्त करना जिसका उद्देश्य है, वह अपने उद्देश्य का साधन उसे बुरा कहकर ही कर सकता है। अतः स्त्रियों के संबंध में गोस्वामी जी ने जो कहा है, वह सिद्धांत-वाक्य नहीं है, अर्थवाद मात्र है। पर उद्दिष्ट प्रभाव उत्पन्न करने के लिये इस युक्ति का अवलंबन गोस्वामी जी ऐसे उदार और सरल-प्रकृति के महात्मा के लिये सर्वथा उचित था, यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि स्त्रियाँ भी मनुष्य हैं—निंदा से उनका जी दुख सकता है। स्त्रियों से काम उत्पन्न होता है, धन से लोभ उत्पन्न होता है, प्रभुता से मद उत्पन्न होता है; इसलिये काम, मद, लोभ आदि से बचने की उत्तेजना उत्पन्न करने के लिये वैराग्य का उपदेश देनेवाले कंचन, कामिनी और प्रभुत्व की निंदा कर दिया करते हैं। बस इसी रीति का पालन बाबा जी ने भी किया है। वे थे तो वैरागी ही। यदि कोई संन्यासिनी अपनी बहिनों को काम क्रोध आदि से बचने का उपदेश देने बैठे तो पुरुषों को इसी प्रकार 'अपावन' और 'सब अवगुणों की खान' कह सकती है! पुरुष-पतंगों के लिये गोस्वामी जी ने स्त्रियों को जिस प्रकार दीपशिखा कहा है, उसी प्रकार स्त्री-पतंगियों के लिये वह पुरुषों को भाड़ कहेगी।

सिद्धांत और अर्थवाद में भेद न समझने के कारण ही गोस्वामी

जी की बहुत सी उक्तियों को लेकर लोग परस्पर विरोध आदि दिखाया करते हैं। वे प्रसंग विशेष में कवि के भीतरी उद्देश्य की खोज न करके केवल शब्दार्थ ग्रहण करके तर्क-वितर्क करते हैं। जैसे एक स्थान पर वे कहते हैं—

"सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परसि कुधातु सुहाई॥"

फिर दूसरे स्थान पर कहते हैं—

"नीच निचाई नहिं तजैं जो पावैं सतसंग।"

इनमें से प्रथम उक्ति सत्संग की महिमा हृदयंगम कराने के लिये कही गई है और दूसरी उक्ति नीच या शठ की भीषणता दिखाने के लिये। एक का उद्देश्य है सत्संग की स्तुति और दूसरी का दुर्जन की निंदा। अतः ये दोनों कथन सिद्धांतरूप में नहीं हैं, अर्थवाद के रूप में हैं। ये पूर्ण सत्य नहीं हैं, आंशिक सत्य हैं जिनका उल्लेख कवि, उपदेशक आदि प्रभाव उत्पन्न करने के लिये करते हैं। काव्य का उद्देश्य शुद्ध विवेचन द्वारा सिद्धांत-निरूपण नहीं होता, रसोत्पादन या भावसंचार होता है। बुद्धि की क्रिया की कविजन आंशिक सहायता ही लेते हैं।

अब रहे शूद्र। समाज चाहे किसी ढंग का हो, उसमें छोटे काम करनेवाले तथा अपनी स्थिति के अनुसार अल्प विद्या, बुद्धि, शील, और शक्ति रखनेवाले कुछ न कुछ रहेंगे ही। ऊँची स्थितिवालों के लिये जिस प्रकार इन छोटी स्थिति के लोगों की रक्षा और सहायता करना तथा उनके साथ कोमल व्यवहार करना आवश्यक है, उसी प्रकार इन छोटी स्थितिवालों के लिये बड़ी स्थितिवालों के प्रति आदर और सम्मान प्रदर्शित करना भी। नीची श्रेणी के लोग यदि अहंकार से उन्मत्त होकर ऊँची श्रेणी के लोगों का अपमान करने पर उद्यत हों, तो व्यावहारिक दृष्टि से उच्चता किसी काम की न रह जाय। विद्या, बुद्धि, बल, पराक्रम, शील और वैभव यदि अकारण अपमान से कुछ अधिक रक्षा न कर सकें तो उनका सामा-

जिक मूल्य कुछ भी नहीं। ऊँची नीची श्रेणियाँ समाज में बराबर थीं और बराबर रहेंगी। अतः शूद्र शब्द को नीची श्रेणी के मनुष्य का—कुल, शील, विद्या, बुद्धि, शक्ति आदि सब में अत्यंत न्यून का बोधक मानना चाहिए। इतनी न्यूनताओं को अलग अलग न लिख कर वर्ण-विभाग के आधार पर उन सब के लिये एक शब्द का व्यवहार कर दिया गया है। इस बात को मनुष्य-जातियों का अनुसंधान करनेवाले आधुनिक लेखकों ने भी स्वीकार किया है कि वन्य और असभ्य जातियाँ उन्हीं का आदर सम्मान करती हैं जो उनमें भय उत्पन्न कर सकते हैं। यही दशा गँवारों की है। इस बात को गोस्वामी जी ने अपनी इस चौपाई में कहा है—

ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी॥

जिससे कुछ लोग इतना चिढ़ते हैं। चिढ़ने का कारण है 'ताड़न' शब्द जो ढोल शब्द के योग में आलंकारिक चमत्कार उत्पन्न करने के लिये लाया गया है। 'स्त्री' का समावेश भी सुरुचि-विरुद्ध लगता है; पर वैरागी समझकर उनकी बात का बुरा न मानना चाहिए।

शील-साधना और भक्ति

लोकमर्य्यादा पालन की ओर जनता का ध्यान दिलाने के साथ ही गोस्वामी जी ने अंतःकरण की सामान्य से अधिक उच्चता सम्पादन के लिये शीलोत्कर्ष की साधना का जो अभ्यास-मार्ग मानव हृदय के बीच से निकाला, वह अत्यंत आलोकपूर्ण और आकर्षक है। शील के असामान्य उत्कर्ष को प्रेम और भक्ति का आलंबन स्थिर करके उन्होंने सदाचार और भक्ति का अन्योन्याश्रित करके दिखा दिया। उन्होंने राम के शील का ऐसा विशद और मर्मस्पर्शी चित्रण किया कि मनुष्य का हृदय उसकी ओर आप से आप आकर्षित हो। ऐसे शील-स्वरूप का देखकर भी जिसका हृदय द्रवीभूत न हो, उसे गोस्वामी जी जड़ समझते हैं। वे कहते हैं—

सुनि सीतापति सील सुभाउ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउ॥
सिसुपन तें पितु मातु बंधु गुरु सेवक सचिव सखाउ।
कहत राम विधु वदन रिसौहैं सपनेहु लखेउ न काउ॥
खेलत संग अनुज बालक नित जुगवत अनट अपाउ।
जीति हारि चुचुकारि दुलारत देत दिवावत दाउ॥
सिला साप-संताप-विगत भइ परसत पावन पाउ।
दई सुगति सो न हेरि हरष हिय, चरन छुए को पछिताउ॥
भवधनु भंजि निदरि भूपति भृगुनाथ खाइ गए ताउ।
छमि अपराध छमाइ पायँ परि इतो न अनत समाउ॥
कह्यौ राज वन दियो नारि-वस गरि गलानि गयो राउ।
ता कुमातु को मन जोगवत ज्यों निज तनु मरम कुघाउ॥
कपि सेवा बस भए कनौड़े, कह्यौ पवन सुत आउ।
देवे को न कछू ऋनिया हौं, धनिक तू पत्र लिखाउ॥
अपनाए सुग्रीव विभीषन तिन न तज्यो छल छाउ।
भरत-सभा सनमानि सराहत होत न हृदय अघाउ॥
निज करुना-करतूति भगत पर चपत चलत चरचाउ।
सकृत प्रनाम सुनत-जस वरनत सुनत कहत "फिरि गाउ"॥

इस दया, इस क्षमा, इस संकोच-भाव, इस कृतज्ञता, इस विनय, इस सरलता को राम ऐसे सर्व-शक्ति-संपन्न आश्रय में जो लोकोत्तर चमत्कार प्राप्त हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। शील और शक्ति के इस संयोग में मनुष्य ईश्वर के लोकपालक रूप का दर्शन करके गद्गद हो जाता है। जो गद्गद न हो, उसे मनुष्यता से नीची कोटि में समझना चाहिए। असामर्थ्य के योग में इन उच्च वृत्तियों के शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हो सकता। राम में शील की यह अभिव्यक्ति आकस्मिक नहीं—अवसर विशेष की प्रवृत्ति नहीं—उनके स्वभाव के अंतर्गत है, इसका निश्चय कराने के लिये बाबा जी उसे

'सिसुपन' से लेकर अंत तक दिखाते हैं। यह सुशीलता राम के स्वरूप के अंतर्गत है। जो इस शीलस्वरूप पर मोहित होगा, वही राम पर पूर्ण रूप से मुग्ध हो सकता है।

भगवान् का जो प्रतीक तुलसीदास जी ने लोक के सम्मुख रखा है, भक्ति का जो प्रकृत आलंबन उन्होंने खड़ा किया है, उसमें सौंदर्य्य, शक्ति और शील तीनों विभूतियों की पराकाष्ठा है। सगुणोपासना के ये तीन सोपान हैं जिन पर हृदय क्रमशः टिकता हुआ उच्चता की ओर बढ़ता है। इनमें से प्रथम सोपान ऐसा सरल है कि स्त्री-पुरुष, मूर्ख-पंडित, राजा-रंक सब उस पर अपने हृदय को बिना प्रयास अड़ा देते हैं। इसकी स्थापना गोस्वामी जी ने राम के रूप-माधुर्य्य का अत्यंत मनोहर चित्रण करके की है। शील और शक्ति से अलग अकेले सौंदर्य्य का प्रभाव देखना हो तो वन जाते हुए राम-जानकी को देखने पर ग्रामवधुओं की दशा देखिए—

(क) तुलसी रही हैं ठाढ़ी, पाहन गढ़ी सी काढ़ी,
कौन जानै कहाँ तें आई, कौन की, को ही॥

(ख) बनिता बनी स्यामल गौर के बीच
बिलोकहु री सखि! मोहिं सौ ह्वै।
मग जोग न, कोमल क्यों चलिहैं?
सकुचाति मही पद पंकज छ्वै।
तुलसी सुनि ग्रामवधू बिथकीं
पुलकीं तन औ चले लोचन च्वै।
सब भाँति मनोहर मोहन रूप,
अनूप हैं भूप के बालक द्वै॥

यह सौंदर्य्य उन भोली स्त्रियों की दया को कैसा आकर्षित करता है। वे खड़ी खड़ी पछताती हैं कि—

पायँन तौ पनही न, पयादेहि क्यों चलिहैं सकुचात हियो है।

ऐसी अनंत रूपराशि के सामीप्य-लाभ के लिये उसके प्रति सुदृढ़-

भाव प्रदर्शित करने के लिये जी ललचता है। ग्रामीण स्त्रियों ने जिनके अलौकिक रूप को देखा, अब उनके वचन सुनने को वे उत्कंठित हो रही हैं—

धरि धीर कहैं "चलु देखिय जाइ जहाँ सजनी ! रजनी रहिहैं ।
सुख पाइहैं कान सुने बतियाँ कल आपुस में कछु पै कहिहैं ॥"

परिचय बढ़ाने की इस उत्कंठा के साथ 'आत्मत्याग' की भी प्रेरणा आप से आप हो रही है; और वे कहती हैं—

"कहिहै जग पोच, न सोच, कछू, फल लोचन आपन तौ लहिहैं।"

कैसे पवित्र प्रेम का उद्गार है! इस प्रेम में कामवासना का कुछ भी लेश नहीं है। राम-जानकी के दाम्पत्य-भाव को देख वे गद्गद हो रही हैं—

"सीस जटा, उर बाहु विसाल, बिलोचन लाल, तिरीछी सी भौहैं।
तून सरासन बान धरे, तुलसी बनमारग में सुठि सोहैं॥
सादर बारहिं बार सुभाय चितै तुम त्यौं हमरो मन मोहैं।"
पूछति ग्रामवधू सिय सों "कहौ साँवरे से सखि रावरे को हैं?"

"चितै तुम त्यों हमरो मन मोहैं" कैसा भावगर्भित वाक्य है! इसमें एक ओर तो राम के आचरण की पवित्रता और दूसरी ओर ग्रामवनिताओं के प्रेमभाव की पवित्रता दोनों एक साथ झलकती है। राम सीता की ओर ही देखते हैं, उन स्त्रियों की ओर नहीं। उन स्त्रियों की ओर ताकते तो वे कहतीं कि "चितै हम त्यों हमरो मन मोहैं"। उनके मोहित होने को हम कुछ कुछ कृष्ण की चितवन पर गोपियों के मोहित होने के समान ही समझते। अतः 'हम' के स्थान पर इस 'तुम' शब्द में कोई स्थूल दृष्टि से चाहे 'असंगति' का ही चमत्कार देख संतोष कर ले, पर इसके भीतर जो पवित्र भाव-व्यंजना है, वही सारे वाक्य का सर्वस्व है।

इस सौन्दर्य्य-राशि के बीच में शील की थोड़ी सी मृदुल आभा भी गोस्वामी जी दिखा देते हैं—

सुनि सुचि सरल सनेह सुहावने ग्रामवधुन्ह के वैन ।
तुलसी प्रभु तरु तर विलँव, किए प्रेम कनौड़े कै न ॥

यह 'सुचि सरल सनेह' तुरंत समाप्त नहीं हो गया, वहुत दिनों तक वना रहा—कौन जाने जीवन भर वना रहा हो। राम के चले जाने पर वहुत दिनों पीछे तक, जान-पहचान न होते हुए भी, उनकी चर्चा चलती रही—

वहुत दिन वीते सुधि कछु न लही ।
गए जे पथिक गोरे साँवरे सलोने,
सखि ! संग नारि सुकुमारि रही ।
जानि पहिचानि विनु आपु तें, आपुने हू तें,
प्रानहूँ तें प्यारे प्रियतम उपही ॥
वहुरि विलोकिवे कवहुँक कहत,
तनु पुलक, नयन जलधार वही ॥

जिसके सौन्दर्य्य पर ध्यान टिक गया, जिसके प्रति प्रेम का प्रादुर्भाव हो गया, उसकी और वातों में भी जी लगने लगता है। उसमें यदि वल, पराक्रम आदि भी दिखाई दे तो उस वल-पराक्रम के महत्त्व का अनुभव हृदय वड़े आनन्द से करता है। गोस्वामी जी ने राम के अलौकिक सौन्दर्य्य का दर्शन कराने के साथ ही उनकी अलौकिक शक्ति का भी साक्षात्कार कराया है। ईश्वरावतार उस राम से वढ़कर शक्तिमान् विश्व में कौन हो सकता है "लव निमेष परमान जुग, काल जासु कोदंड।" इस अनंत सौन्दर्य्य और अनंत शक्ति में अनंत शील की योजना हो जाने से भगवान् का सगुण रूप पूर्ण हो जाता है। 'शील' तक आने का कैसा सुगम और मनोहर मार्ग वावाजी ने तैयार किया है! सौन्दर्य्य के प्रभाव से हृदय को वशीभूत करके शक्ति के अलौकिक प्रदर्शन से उसे चकित करते हुए अंत में वे उसे 'शील' या 'धर्म' के रमणीय रूप की ओर आप से आप आकर्षित होने के लिये छोड़ देते हैं। जव इस शील के

मनोहर रूप की ओर मनुष्य आकर्षित हो जाता है और अपनी वृत्तियों को उसके मेल में देखना चाहता है, तब जाकर वह भक्ति का अधिकारी होता है। जो केवल बाह्य सौन्दर्य्य पर मुग्ध होकर और अपूर्व शक्ति पर चकित होकर ही रह गया, 'शील' की ओर आकर्षित होकर उसकी साधना में तत्पर न हुआ, वह भक्ति का अधिकारी न हुआ। इस अधिकार-प्राप्ति की उत्कंठा गोस्वामी जी ने कैसे स्पष्ट शब्दों में प्रकट की है, देखिए—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो ?
श्री रघुनाथ-कृपालु-कृपा तें संत सुभाव गहौंगो।
यथा लाभ संतोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो।
परहित-निरत निरंतर मन क्रम वचन नेम निबहौंगो॥
परुष वचन अति दुसह श्रवण सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
विगत मान, सम सीतल मन, पर गुन, नहिं दोख, कहौंगो।
परिहरि देह-जनित चिंता, दुख सुख समबुद्धि सहौंगो॥
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरिभक्ति लहौंगो।

शील-साधना की इस उच्च भूमि में पाठक देख सकते हैं कि विरति या वैराग्य आप से आप मिला हुआ है। पर लोक-कर्तव्यों से विमुख करनेवाला वैराग्य नहीं—परहित-चिंतन से अलग करनेवाला वैराग्य नहीं—अपनी पृथक् प्रतीत होती हुई सत्ता को लोकसत्ता के भीतर लय कर देनेवाला वैराग्य, अपनी 'देह-जनित चिंता' से अलग करनेवाला वैराग्य। भगवान् ने उत्तर कांड में संतों के संबंध में जो "त्यागहिं करम सुभासुभदायक" कहा है, वह "पर हित" का विरोधी नहीं है। वह गीता में उपदिष्ट निर्लिप्त कर्म का बोधक है। जब साधक भक्ति द्वारा अपनी व्यक्ति का लोक में लय कर चुका, जब फलासक्ति रह ही न गई, तब उसे कर्म स्पर्श कहाँ से करेंगे ? उसने अपनी पृथक् प्रतीत होती हुई सत्ता को लोक-सत्ता में—भगवान् की व्यक्त सत्ता में मिला दिया। भक्ति द्वारा अपनी

व्यक्त सत्ता को भगवान् की व्यक्त सत्ता में मिलाना मनुष्य के लिये जितना सुगम है, उतना ज्ञान द्वारा ब्रह्म की अव्यक्त सत्ता में अपनी व्यक्त सत्ता को मिलाना नहीं। संसार में रहकर इन्द्रियार्थों का निषेध असंभव है; अतः मनुष्य को वह मार्ग ढूँढ़ना चाहिए जिसमें इन्द्रियार्थ अनर्थकारी न हों। यह भक्तिमार्ग है, जिसमें इन्द्रियार्थ भी मंगलप्रद हो जाते हैं—

विषयिन्ह कहँ पुनि हरिगुनग्रामा। स्रवन सुखद अरु मन अभिरामा॥

इस प्रकार अपनी व्यक्ति को लोक में लय करना राम में अपने को लय करना है क्योंकि यह जगत् 'सियाराममय' है। जब हम संसार के लिये वही करते हुए पाए जाते हैं जो वह अपने लिए कर रहा है—वह करते हुए नहीं जिसका लक्ष्य उसके लक्ष्य से अलग या विरुद्ध है—तब मानों हमने अपने अस्तित्व को जगत् को अर्पित कर दिया। ऐसे लोगों को ही जीवन्मुक्त कहना चाहिए।

'शील' और 'भक्ति' का नित्य संबंध गोस्वामी जी ने बड़ी भावुकता से प्रकट किया है। वे राम से कहते हैं कि यदि मेरे ऐसे पतित से संभाषण करने में आपको संकोच हो, तो मन ही मन में अपना लीजिए—

"प्रन करिहौं हठि आजु तें रामद्वार पर्‌यो हौं।
'तू मेरो' यह बिनु कहे उठिहौं न जनम भरि, प्रभु की सौं करि निबर्‌यो हौं।
प्रगट कहत जौं सकुचिए अपराध भर्‌यो हौं।
तौ मन में अपनाइए तुलसिहि कृपा करि कलि बिलोकि हहर्‌यो हौं।

फिर यह मालूम कैसे होगा कि आपने मुझे अपना लिया? गोस्वामी जी कहते हैं—

"तुम अपनायो, तब जानिहौं जब मन फिरि परिहै।
सुत की प्रीति, प्रतीति मीत की, नृप ज्यों डर डरिहै।
हरषिहै न अति आदरे, निदरे न जरि मरिहै।

हानि लाभ दुख सुख सबै सम चित हित अनहित कलि कुचाल
परिहरिहै ।"

जब कलि की सब कुचालें छूट जायँ, बुरे कर्मों से मुँह मुड़ जाय, तब समझूँ कि मुझे भक्ति प्राप्त हुई । जिस भक्ति से यह स्थिति प्राप्त न हो वह भगवत्‌भक्ति नहीं; और किसी की भक्ति हो तो हो। गोस्वामी जी की 'श्रुतिसम्मत' हरिभक्ति वही है जिसका लक्षण शील है—

प्रीतिं राम सों, नीति-पथ चलिय, रागरिसि जीति ।
तुलसी संतन के मते इहै भगति की रीति ।

शील हृदय की वह स्थायी स्थिति है जो सदाचार की प्रेरणा आप से आप करती है । सदाचार ज्ञान द्वारा प्रवर्त्तित हुआ है या भक्ति द्वारा, इसका पता यों लग सकता है कि ज्ञान द्वारा प्रवर्त्तित जो सदाचार होगा, उसका साधन बड़े कष्ट से—हृदय को पत्थर के नीचे दबाकर किया जायगा; पर भक्ति द्वारा प्रवर्त्तित जो सदाचार होगा, उसका अनुष्ठान बड़े आनंद से, बड़ी उमंग के साथ, हृदय से होता हुआ दिखाई देगा । उसमें मन को मारना न होगा, उसे और सजीव करना होगा । कर्त्तव्य और शील का वही आचरण सच्चा है जो आनंदपूर्व्वक हर्षपुलक के साथ हो—

रामहिं सुमिरत, रन भिरत, देत, परत गुरु-पाय ।
तुलसी जिनहिं न पुलकतनु ते जग जीवन जाय ॥

शील द्वारा प्रवर्त्तित सदाचार सुगम भी होता है और स्थायी भी; क्योंकि इसका संबंध हृदय से होता है । इस शीलदशा की प्राप्ति भक्ति द्वारा होती है । विवेकाश्रित सदाचार और भक्ति इन दोनों में किसका साधन सुगम है, इस प्रश्न को और साफ करके बाबा जी कहते हैं—

कै तोहिं लागहिं राम प्रिय, कै तू प्रभुप्रिय होहि ।
दुइ महँ रुचै जो सुगम सो कीबे तुलसी तोहि ॥

या तो तुझे राम प्रिय लगें या राम को तू प्रिय लग, इन दोनों में जो सीधा समझ पड़े सो कर। तुझे राम प्रिय लगें, इसके लिये तो इतना ही करना होगा कि तू राम के मनोहर रूप, गुण, शक्ति और शील को बार बार अपने अंतःकरण के सामने रखा कर; बस राम तुझे अच्छे लगने लगेंगे। शील को शक्ति और सौन्दर्य्य के योग में यदि तू बार बार देखेगा, तो शील की ओर भी क्रमशः आप से आप आकर्षित होगा। तू राम को प्रिय लगे, इसके लिये तुझे स्वयं उत्तम गुणों को धारण करना पड़ेगा और उत्तम कर्मों का संपादन करना पड़ेगा। पहला मार्ग कैसा सुगम है, जो कुछ दूर जाकर दूसरे मार्ग से मिल जाता है और दोनों मार्ग एक हो जाते हैं। ज्ञान या विवेक द्वारा सदाचार की प्राप्ति वे स्पष्ट शब्दों में कठिन बतलाते हैं—

कहत कठिन, समुझत कठिन, साधत कठिन विवेक।
होइ घुनाच्छर न्याय जौ पुनि प्रत्यूह अनेक॥

कोई आदमी कुटिल है; सरल कैसे हो? गोस्वामी जी कहते हैं कि राम की सरलता के अनुभव से। राम के अभिषेक की तैयारी हो रही है। इस पर राम सोचते हैं—

जनमे एक संग सब भाई। भोजन, सयन, केलि, लरिकाई॥
बिमल बंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥

भक्तशिरोमणि तुलसीदास जी याचना करते हैं कि राम का यह प्रेमपूर्वक पछताना भक्तों के मन की कुटिलता दूर करे।

प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई। हरउ भगत-मन कै कुटिलाई॥

राम की ओर प्रेम की दृष्टि पड़ते ही मनुष्य पापों से विमुख होने लगता है। जो धर्म के स्वरूप पर मुग्ध हो जायगा, वह अधर्म की ओर फिर भरसक नहीं ताकने जायगा। भगवान् कहते हैं—

सनमुख होइ जीव मोहिं जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥
पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ॥

राम के शील के अंतर्गत "शरणागत की रक्षा" को गोस्वामी जी ने बहुत प्रधानता दी है। यह वह गुण है जिसे देख पापी से पापी भी अपने उद्धार की आशा कर सकता है। ईसा ने भी पापियों को निराश होने से बचाया था। भक्तिमार्ग के लिये यह आशा परम आवश्यक है। इसी "शरण-प्राप्ति" की आशा बँधाने के लिये बाबा जी ने कुछ ऐसे पद्य कहे हैं जिनसे लोग सदाचार की उपेक्षा समझते हैं; जैसे—

> बंधु बधूरत कहि कियो बचन निरुत्तर बालि।
> तुलसी प्रभु सुग्रीव की चितइ न कछू कुचालि॥

इसी प्रकार गणिका, अजामिल आदि का भी नाम वे बार बार लाए हैं। पर उन्होंने भगवान् की भक्तवत्सलता दिखाने के लिये ऐसा किया है; यह दिखाने के लिये नहीं कि भक्ति और सदाचार से कोई संबंध ही नहीं है और पाप करता हुआ भी मनुष्य भक्त कहला सकता है। पापियों के उद्धार का मतलब पापियों का सुधार है—ऐसा सुधार जिससे लोक और परलोक दोनों बन सकते हैं। गोस्वामी जी द्वारा प्रतिपादित रामभक्ति वह भाव है जिसका संचार होते ही अंतःकरण बिना कष्ट के शुद्ध हो जाता है—सारा कल्मष, सारी मलिनता आपसे आप छूटने लगती है। अंतःकरण की पूर्ण शुद्धि भक्ति के बिना नहीं हो सकती, अपना यह सिद्धान्त उन्होंने कई जगह प्रकट किया है—

> नयन मलिन परनारि निरखि, मन मलिन विषय सँग लागे।
> हृदय मलिन वासना मान मद जीव सहज सुख त्यागे॥
> पर निंदा सुनि स्रवन मलिन भए, बदन दोष पर गाए।
> सब प्रकार मलभार लाग निज नाथ चरन बिसराए॥
> तुलसिदास व्रत दान ज्ञान तप सुद्धि हेतु स्रुति गावै।
> रामचरन—अनुराग—नीर बिनु मल अति नास न पावै॥

जब तक भक्ति न हो तब तक सदाचार को गोसाईं जी स्थायी

नहीं समझते। मनुष्य के आचारण में शुद्ध ज्ञान द्वारा वह दृढ़ता नहीं आ सकती जो भक्ति द्वारा प्राप्त होती है—

कबहुँ जोगरत भोगनिरत सठ हठ वियोग बस होई।
कबहुँ मोहबस द्रोह करत बहु कबहुँ दया अति सोई॥
कबहुँ दीन मतिहीन रंकतर, कबहुँ भूप अभिमानी।
कबहुँ मूढ़, पंडित बिडंबरत, कबहुँ धरमरत ज्ञानी॥
संजम जप तप नेम धरम व्रत बहु भेषज समुदाई।
तुलसिदास भवरोग रामपद—प्रेम—हीन नहिं जाई॥

इसी से उन्होंने भक्ति के बिना शील आदि सब गुणों को निराधार और नीरस कहा है—

सूर सुजान सपूत सुलच्छन गनियत गुन गरुआई।
बिनु हरिभजन इँदारुन के फल तजत नहीं करुआई॥
कीरति कुल करतूति भूति भलि, सील सरूप सलोने।
तुलसी प्रभु-अनुराग-रहित जस सालन साग अलोने॥

भक्ति की आनंदमयी प्रेरणा से शील की ऊँची से ऊँची अवस्था की प्राप्ति आप से आप हो जाती है और मनुष्य 'संत' पद को पहुँच जाता है। इस प्रेरणा में रूप, गुण, शील, बल सब के प्रभाव का योग रहता है। इसी प्रकार के प्रभाव से—

भए सब साधु किरात किरातिनि, रामदरस मिटि गइ कलुषाई॥

ज्ञान और भक्ति

यहाँ तक तो भक्ति और शील का समन्वय हुआ; अब ज्ञान और भक्ति का समन्वय देखिए। गरुड़ को समझाते हुए काकभुशुंडि कहते हैं—

"ज्ञानहिं भगतिहि नहिं कछु भेदा।"

साध्य की एकता से भक्ति और ज्ञान दोनों एक ही हैं—

उभय हरहिं भवसंभव खेदा।

पहले कहा जा चुका है कि शक्ति, शील और सौंदर्य की पराकाष्ठा भगवान् का व्यक्त या सगुण स्वरूप है। इनमें से सौंदर्य और शील भगवान् के लोकपालन और लोकरंजन के लक्षण हैं और शक्ति उद्भव और लय का लक्षण है। जिस शक्ति की अनंतता पर भक्त केवल चकित होकर रह जायगा, ज्ञानी उसके मूल तक जाने के लिये उत्सुक होगा। ईश्वर ज्ञान-स्वरूप है, अतः ज्ञान के प्रति यह औत्सुक्य भी ईश्वर ही के प्रति है। यह औत्सुक्य भी भक्ति के समान एक 'भाव' ही है, या यों कहिए कि भक्ति का ही एक रूप है—पर एक ऐसे कठिन क्षेत्र की ओर ले जानेवाला जिसमें कोई विरला ही ठहर सकता है।

ज्ञानपंथ कृपान कै धारा। परत, खगेस! होइ नहिं बारा।

जो इस कठिन ज्ञानपथ पर निरंतर चला जायगा, उसी को अंत में "सोऽहमस्मि" का अनुभव प्राप्त होगा। पर इस "सोऽहमस्मि" की अखंड वृत्ति तक प्राप्त होने की कठिनता गोस्वामी जी ने बड़ा ही लंबा और पेचीला रूपक बाँधकर दिखाई है। इस तत्व की सम्यक् प्राप्ति के पहले सेव्य-सेवक भाव का त्याग अत्यंत अनर्थकारी और दोषजनक है। इसी से गोस्वामी जी सिद्धांत करते हैं कि—

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय, उरगारि!

भक्ति और ज्ञान का तारतम्य अत्यंत गूढ़ और रहस्यपूर्ण उक्ति द्वारा गोस्वामी जी ने प्रदर्शित किया है। वे कहते हैं—

ग्यान बिराग जोग बिग्याना। ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना॥
माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ। नारिवर्ग जानहिं, सब कोऊ॥
मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि! यह रीति अनूपा॥

ज्ञान पुरुष अर्थात् चैतन्य है और भक्ति सत्वस्थ प्रकृति स्वरूपा है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि 'ज्ञान' बोधवृत्ति और भक्ति रागात्मिका वृत्ति है। बोधवृत्ति राग के द्वारा आक्रांत हो सकती है, पर एक राग दूसरे राग को दूर रखता है। सत्वस्थ राग यदि दृढ़

हो आयगा तो राजस और तामस दोनों रागों को दूर रखेगा। रागात्मिका वृत्ति को मार डालना तो बात ही बात है। अतः उसे एक अच्छी जगह टिका देना चाहिए—ऐसी जगह टिका देना चाहिए जहाँ से वह न लोकधर्म के पालन में, न शील की उच्च साधना में और न ज्ञान के मार्ग में बाधक हो सके। इसके लिये भगवान् के सगुण रूप से बढ़कर और क्या आलंबन हो सकता है जिसमें शील, शक्ति, और सौंदर्य्य तीनों परमावस्था को प्राप्त होते हैं—

राम काम सत कोटि सुभग तन।
दुर्गा कोटि अमित अरि मर्दन॥
मरुत कोटि सत विपुल बल, रवि सत कोटि प्रकास।
ससि सतकोटि सो सीतल समन सकल भव-त्रास॥
काल कोटि सत सरिस अति दुस्तर दुर्ग दुरंत।
धूमकेतु सत कोटि सम, दुराधर्ष भगवंत॥

यद्यपि कथा के प्रसंग में राम विष्णु के अवतार ही कहे गए हैं, पर भक्त की अनन्य भावना में वे देव-कोटि से भी परे हैं—

विष्णु कोटि सम पालन-करता।
रुद्र कोटि सत सम संहरता॥

इस नाम—रूपात्मक जगत् के बीच परमार्थ तत्त्व का शुद्ध स्वरूप पूरा पूरा निरूपित नहीं हो सकता। ऐसे निरूपण में अज्ञान का लेश अवश्य रहेगा; या यों कहिए कि अज्ञान ही के सहारे वह बोधगम्य होगा। अज्ञान् अर्थात् दृश्य जगत् के शब्दों में ही यह निरूपण होगा—चाहे निपेधात्मक ही हो। निपेध मात्र से स्वरूप तक पहुँच नहीं हो सकती। हम किसी का मकान ढूँढ़ने में हैरान हैं। कोई हमें मकान दिखाने के लिये ले चले और दुनियाँ भर के मकानों को दिखाता हुआ "यह नहीं है" "यह नहीं है" कहकर बैठ जाय तो हमारा क्या संतोष होगा? प्रकृति के विकार अंतःकरण की क्रिया के स्वरूप को ही अधिकतर हम ज्ञान या शुद्ध-

चैतन्य का स्वरूप समझा-समझाया करते हैं। अतः अज्ञान-रहित ज्ञान बात ही बात है। इसी से गोस्वामी जी ललकारकर कहते हैं कि जो अज्ञान बिना ज्ञान या सगुण बिना निर्गुण कह दे, उसके चेले होने के लिये हम तैयार हैं—

ग्यान कहै अग्यान बिनु, तम बिनु कहै प्रकास।
निरगुन कहै जो सगुन बिनु, सो गुरु, तुलसी दास॥

हमारा ज्ञान भी अज्ञान–सापेक्ष है। हमारी निर्गुण भावना भी सगुण भावना की अपेक्षा रखती है, ठीक उसी प्रकार जैसे प्रकाश की भावना अंधकार की भावना की अपेक्षा रखती है। मानव-ज्ञान के इस सापेक्ष स्वरूप को देखकर आजकल के बड़े बड़े विज्ञान–विशारद इतनी दूर पहुँचकर ठिठक गए हैं। आगे का मार्ग उन्हें दिखाई ही नहीं पड़ता।

तर्क और विवाद को भी गोस्वामी जी एक व्यसन समझते हैं। उसमें भी एक प्रकार का स्वाद या रस होता है। इस प्रकार के अनेक रस इस संसार में हैं। कोई किसी रस में मग्न है, तो कोई किसी में—

जो जो जेहि जेहि रस मगन तहँ सों मुदित मन मानि।
रस—गुन—दोष बिचारिबो रसिक रीति पहिचानि॥

तुलसीदास जी तो सब रसों को छोड़ भक्तिरस की ओर झुकते हैं और अपनी जीभ से वाद–विवाद का स्वाद छोड़ने को कहते हैं—

बाद–बिवाद–स्वाद तजि भजि हरि सरस चरित चित लावहि।

इस रामभक्ति के द्वारा ज्ञानियों का साध्य मोक्ष आप से आप बिना इच्छा और प्रयत्न के प्राप्त हो सकता है—

राम भजत सोइ मुक्ति गुसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥

ज्ञानपक्ष में जाकर गोसाईं जी का सिद्धांत क्या है, इसका पता लगाने के पहले यह समझ लेना चाहिए कि यद्यपि स्थान स्थान पर उन्होंने तत्त्वज्ञान का भी सन्निवेश किया है, पर अपने लिये उन्होंने

कोई एक सिद्धांत-मार्ग स्थिर करने का प्रयत्न नहीं किया है। पहली बात तो यह है कि जब वे भक्तिमार्ग के अनुगामी हो चुके, तब ज्ञानमार्ग ढूँढने के लिये तर्क-वितर्क का प्रयत्न क्यों करने जाते ? दूसरा कारण उनकी सामंजस्य-बुद्धि है। साम्प्रदायिक दृष्टि से तो वे रामानुजाचार्य्य के अनुयायी थे ही जिनका निरूपित सिद्धांत भक्तों की उपासना के बहुत अनुकूल दिखाई पड़ा। उपनिषद् प्रतिपादित "सोऽहमस्मि" और "तत्त्वमसि" आदि अद्वैत वाक्यों की पारमार्थिकता में विश्वास रखते हुए भी—

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। तहँ लगि माया जानेहु भाई॥

कहकर मायावाद का स्वीकार करते हुए भी, कहीं कहीं विशिष्टाद्वैत मत का आभास उन्होंने दिया है; जैसे—

ईश्वर-अंस जीव अबिनासी। चेतन, अमल, सहज, सुखरासी॥
सो मायावस भयेउ गोसाईं। बँधेउ कीर मरकट की नाईं॥

शुद्ध ब्रह्म स्वगत, सजातीय और विजातीय तीनों भेदों से रहित है। किसी वस्तु का अंश उसका स्वगत भेद है; अतः जीव को ब्रह्म का अंश कहना (ब्रह्म-हीन कहना) अद्वैत मत के अनुकूल न होकर रामानुज के विशिष्टाद्वैत के अनुकूल है जिसके अनुसार चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर एक ही है। चित् (जीव) और अचित् (जगत्) दोनों ईश्वर के अंग या शरीर हैं। ईश्वर-शरीर के इस सूक्ष्म चित् और सूक्ष्म अचित् से ही स्थूल चित् और स्थूल अचित् अर्थात् अनेक जीवों और जगत् की उत्पत्ति हुई है। इससे यह लक्षित होता है कि परमार्थ दृष्टि से—शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से—तो अद्वैत मत गोस्वामी जी को मान्य है, पर भक्ति के व्यावहारिक सिद्धांत के अनुसार भेद करके चलना वे अच्छा समझते हैं। गरुड़ के ईश्वर और जीव में भेद पूछने पर काकभुशुंडि कहते हैं—

माया वस्य जीव अभिमानी। ईस वस्य माया गुन-खानी।
परवस जीव, स्ववस भगवंता। जीव अनेक, एक श्रीकंता॥

इतना भेद करके वे परमार्थ-दृष्टि से अद्वैत पक्ष पर आते हुए कहते हैं कि ये भेद यद्यपि मायाकृत हैं—परमार्थतः सत्य नहीं हैं—पर इन्हें मिटाने के लिये ईश्वर को स्वामी मानकर भक्ति करनी पड़ेगी।

मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया॥

व्याप्य-व्यापक की यह एकत्व भावना भी विशिष्टाद्वैत के अधिक अनुकूल जान पड़ती है—

जो कछु बात बनाइ कहौं, तुलसी तुम में, तुमहूँ उरमाहीं।
जानकी-जीवन जानत हौ हम हैं तुम्हरे, तुम में सक नाहीं॥

इसी प्रकार इस नीचे के वाक्य से भी 'अद्वैत' से असंतोष व्यंजित होता है—

जे मुनि ते पुनि आपुहि आपु को ईस कहावत सिद्ध सयाने।

अंत में इस संबंध में इतना कह देना आवश्यक है कि तुलसीदास जी भक्तिमार्गी थे; अतः उनकी वाणी में भक्ति के गूढ़ रहस्यों का ढूँढ़ना ही अधिक फलदायक होगा, ज्ञानमार्ग के सिद्धान्तों को ढूँढ़ना नहीं।

तुलसीदास जी की भावुकता

कवि की भावुकता का सब से अधिक पता यह देखने से चल सकता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान सका है या नहीं। रामकथा के भीतर ये स्थल अत्यंत मर्मस्पर्शी हैं—राम का अयोध्यात्याग और पथिक के रूप में वनगमन; चित्रकूट में राम और भरत का मिलन; शबरी का आतिथ्य; लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का विलाप और भरत की प्रतीक्षा। इन स्थलों को गोस्वामी जी ने अच्छी तरह पहचाना है, क्योंकि इनका उन्होंने अधिक विस्तृत और विशद वर्णन किया है। एक सुंदर राजकुमार के छोटे भाई और स्त्री को लेकर घर से निकलने और वन वन फिरने से अधिक और मर्मस्पर्शी दृश्य क्या हो सकता है।

इस दृश्य का गोस्वामी जी ने मानस, कवितावली और गीतावली तीनों में अत्यंत सहृदयता के साथ वर्णन किया है। गीतावली में तो इस प्रसंग के सवासे अधिक पद हैं। ऐसा दृश्य स्त्रियों के हृदय को सबसे अधिक स्पर्श करनेवाला, उनकी प्रीति, दया और आत्मत्याग को सबसे अधिक उभारनेवाला होता है, यह बात समझकर मार्ग में उन्होंने ग्रामवधुओं का सन्निवेश किया है। ये स्त्रियाँ राम-जानकी के अनुपम सौन्दर्य्य पर स्नेहशिथिल हो जाती हैं, उनका वृत्तान्त सुनकर राजा की निष्ठुरता पर पछताती हैं, कैकेयी की कुचाल पर भला-बुरा कहती हैं। सौन्दर्य्य के साक्षात्कार से थोड़ी देर के लिये उनकी वृत्तियाँ कोमल हो जाती हैं, वे अपने को भूल जाती हैं। यह कोमलता उपकार-बुद्धि की जननी है—

सीता लखन सहित रघुराई। गाँव निकट जब निकसहिं जाई॥
सुनि सब बाल वृद्ध नर नारी। चलहिं तुरत गृहकाज बिसारी॥
राम लखन सिय रूप निहारी। पाइ नयनफल होहिं सुखारी॥
सजल बिलोचन पुलक सरीरा। सब भए मगन देखि दोउ बीरा॥
रामहिं देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहिं सँग लागे॥

एक देखि बटछाँह भलि, डासि मृदुल तृन पात।
कहहिं "गँवाइअ छिनुक स्रम, गवनब अबहिं कि प्रात?"

राम जानकी के अयोध्या से निकलने का दृश्य वर्णन करने में गोस्वामी जी ने कुछ उठा नहीं रखा। सुशीलता के आगार रामचंद्र प्रसन्नमुख निकलकर दास-दासियों को गुरु के सपुर्द कर रहे हैं; सबसे वही करने की प्रार्थना करते हैं जिससे राजा का दुःख कम हो। उनकी सर्वभूतव्यापिनी सुशीलता ऐसी है कि उनके वियोग में पशु पक्षी भी विकल हैं। भरत जी जब लौटकर अयोध्या आए, तब उन्हें सर-सरिताएँ भी श्रीहत दिखाई पड़ीं, नगर भी भयानक लगा। भरत को यदि रामगमन का संवाद मिल गया होता तो हम इसे भरत के हृदय की छाया कहते। पर घर में जाने के पहले उन्हें कुछ

भी वृत्त ज्ञात नहीं था। इससे हम सर-सरिता के श्रीहत होने का अर्थ उनकी निर्जनता, उनका सन्नाटापन लेंगे। लोग राम-वियोग में विकल पड़े हैं। सर-सरिता में जाकर स्नान करने का उत्साह उन्हें कहाँ? पर यह अर्थ हमारे आप के लिये है। गोस्वामी जी ऐसे भावुक महात्मा के निकट तो राम के वियोग में अयोध्या की भूमि ही विषाद-मग्न हो रही है; आठ आठ आँसू रो रही है।

चित्रकूट में राम और भरत का जो मिलन हुआ है, वह शील और शील का, स्नेह और स्नेह का, नीति और नीति का मिलन है। इस मिलन से संघटित उत्कर्ष की दिव्य प्रभा देखने योग्य है। यह झाँकी अपूर्व है! 'भायप भगति' से भरे भरत नंगे पाँव राम को मनाने जा रहे हैं। मार्ग में जहाँ सुनते हैं कि यहाँ पर राम-लक्ष्मण ने विश्राम किया था, उस स्थल को देख आँखों में आँसू भर लेते हैं।

राम बासथल बिटप बिलोके।
उर अनुराग रहत नहिं रोके॥

मार्ग में लोगों से पूछते जाते हैं कि राम किस वन में हैं। जो कहता है कि हम उन्हें सकुशल देखे आते हैं, वह उन्हें राम-लक्ष्मण के समान ही प्यारा लगता है। प्रियसंबंधी आनंद के अनुभव की आशा देनेवाला एक प्रकार से उस आनंद का जगानेवाला है—'उद्दीपन' है। सब माताओं से पहले राम कैकेयी से प्रेमपूर्वक मिले। क्यों? क्या उसे चिढ़ाने के लिये? कदापि नहीं। कैकेयी से प्रेम-पूर्वक मिलने की सब से अधिक आवश्यकता थी। अपना महत्व या सहिष्णुता दिखाने के लिये नहीं, उसके परितोष के लिये। अपनी करनी पर कैकेयी को जो ग्लानि थी, वह राम ही के दूर किए हो सकती थी, और किसी के किए नहीं। उन्होंने माताओं से मिलते समय स्पष्ट कहा था—

अंब! ईस आधीन जग काहु न देइय दोषु।

कैकेयी को ग्लानि थी या नहीं, इस प्रकार के संदेह का स्थान

गोस्वामी जी ने नहीं रखा। कैकेयी की कठोरता आकस्मिक थी, स्वभावगत नहीं। स्वभावगत भी होती तो भी राम की सरलता और सुशीलता उसे कोमल करने में समर्थ थी।

लखि सिय सहित सरल दोउ भाई।
कुटिल रानि पछितानि अघाई॥
अवनि जमहि जाचति कैकेई।
महि न बीछु, विधि मीचु न देई॥

जिस समाज के शील-संदर्भ की मनोहारिणी छटा को देख वन के कोल-किरात मुग्ध होकर सात्त्विक वृत्ति में लीन हो गए, उसका प्रभाव उसी समाज में रहनेवाली कैकेयी पर कैसे न पड़ता ?

(क) भए सब साधु किरात किरातिनि रामदरस मिटि गइ कलुषाई।
(ख) कोल किरात भिल्ल वनवासी। मधु सुचि सुंदर स्वादु सुधासी॥
भरि भरि परन पुटीरुचि रूरी। कंद मूल फल अंकुर जूरी॥
सबहिं देहिं करि विनय प्रनामा। कहि कहि स्वाद-भेद गुन नामा॥
देहिं लोग बहु, मोल न लेहीं। फेरत राम दोहाई देहीं॥

और सब से पुलकित होकर कहते हैं—

तुम्ह प्रिय पाहुन बन पगु धारे। सेवा जोगु न भाग हमारे।
देब काह हम तुम्हहिं गोसांई। ईंधन पात किरात मिताई॥
यह हमारि अति बड़ि सेवकाई। लेहिं न बासन बसन चोराई॥
हम जड़ जीव जीवघनघाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती॥
सपनेहुँ धरम-बुद्धि कस काऊ। यह रघुनंदन-दरस प्रभाऊ॥

उस पुण्यसमाज के प्रभाव से चित्रकूट की रमणीयता में पवित्रता भी मिल गई। उस समाज के भीतर नीति, स्नेह, शील, विनय, त्याग आदि के संघर्ष से जो धर्मज्योति फूटी, उससे आसपास का सारा प्रदेश जगमगा उठा—उसकी मधुर स्मृति से आज भी वहाँ की वनस्थली परम पवित्र है। चित्रकूट की उस सभा की कार्रवाई क्या थी, धर्म के एक एक अंग की पूर्ण और मनोहर अभिव्यक्ति थी।

रामचरितमानस में वह सभा एक आध्यात्मिक घटना है। धर्म के इतने स्वरूपों की एक साथ योजना, हृदय की इतनी उदात्त वृत्तियों की एक साथ उद्भावना, तुलसी के ही विशाल 'मानस' में संभव थी। यह संभावना उस समाज के भीतर बहुत से भिन्न भिन्न वर्गों के समावेश द्वारा संघटित की गई है। राजा और प्रजा, गुरु और शिष्य, भाई और भाई, माता और पुत्र, पिता और पुत्री, श्वसुर और जामातृ, सास और बहू, क्षत्रिय और ब्राह्मण, ब्राह्मण और शूद्र, सभ्य और असभ्य के परस्पर व्यवहारों का, उपस्थित प्रसंग के धर्म-गांभीर्य्य और भावोत्कर्ष के कारण, अत्यंत मनोहर रूप प्रस्फुटित हुआ। धर्म के उस स्वरूप को देख सब मोहित हो गए— क्या नागरिक, क्या ग्रामीण और क्या जंगली। भारतीय शिष्टता और सभ्यता का चित्र यदि देखना हो तो इस राज-समाज में देखिए। कैसी परिष्कृत भाषा में, कैसी प्रवचनपटुता के साथ प्रस्ताव उपस्थित होते हैं, किस गंभीरता और शिष्टता के साथ बात का उत्तर दिया जाता है, छोटे बड़े की मर्य्यादा का किस सरसता के साथ पालन होता है! सब की इच्छा है कि राम अयोध्या को लौटें; पर उनके स्थान पर भरत वन को जाँय, यह इच्छा भरत को छोड़ शायद ही और किसी के मन में हो। अपनी प्रबल इच्छाओं को लिए हुए लोग सभा में बैठते हैं; पर वहाँ बैठते ही धर्म के स्थिर और गंभीर स्वरूप के सामने उनकी व्यक्तिगत इच्छाओं का कहीं पता नहीं रह जाता। राजा के सत्य-पालन से जो गौरव राजा और प्रजा दोनों को प्राप्त होता दिखाई दे रहा है, उसे खंडित देखना वे नहीं चाहते। जनक, वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि धर्मतत्त्व के पारदर्शी जो कुछ निश्चय कर दें, उसे वे कलेजे पर पत्थर रखकर मानने को तैयार हो जाते हैं।

इस प्रसंग में परिवार और समाज की ऊँची नीची श्रेणियों के बीच कितने संबंधों का उत्कर्ष दिखाई पड़ता है, देखिए—

(१) राजा और प्रजा का संबंध लीजिए। अयोध्या की सारी

प्रजा अपना सब काम-धंधा छोड़ भरत के पीछे राम के प्रेम में उन्हीं के समान मग्न चली जा रही है और चित्रकूट में राम के दर्शन से आह्लादित होकर चाहती है कि चौदह वर्ष यहीं काट दें।

(२) भरत का अपने बड़े भाई के प्रति जो अलौकिक स्नेह और भक्तिभाव यहाँ से वहाँ तक झलकता है, वह तो सब का आधार ही है।

(३) ऋषि या आचार्य के सम्मुख प्रगल्भता प्रकट होने के भय से भरत और राम अपना मत तक प्रकट करते सकुचाते हैं।

(४) राम सब माताओं से जिस प्रकार प्रेम-भाव से मिले, वह उनकी शिष्टता का ही सूचक नहीं है, उनके अंतःकरण की कोमलता और शुद्धता भी प्रकट करता है।

(५) विवाहिता कन्या को पति की अनुगामिनी देख जनक जो यह हर्ष प्रकट करते हैं—

पुत्रि ! पवित्र किए कुल दोऊ। सुजस धवल जग कह सब कोऊ॥

वह धर्म-भाव पर मुग्ध होकर ही।

(६) भरत और राम दोनों जनक को पिता के स्थान पर कहकर सब भार उन्हीं पर छोड़ते हैं।

(७) सीता जी अपने पिता के डेरे पर जाकर माता के पास बैठी हैं। इतने में रात हो जाती है और वे असमंजस में पड़ती हैं—

कहत न सीय सकुचि मनमाहीं। इहाँ बसब रजनी भल नाहीं॥

पति तपस्वी के वेश में भूशय्या पर रात काटें और पत्नी उनसे अलग राजसी ठाठबाट के बीच रहे, यही असमंजस की बात है।

(८) जबसे कौशल्या आदि आई हैं, तबसे सीता बराबर उनकी सेवा में लगी रहती है।

(९) ब्राह्मणवर्ग के प्रति राजवर्ग के आदर और सम्मान का जैसा मनोहर स्वरूप दिखाई पड़ता है, वैसी ही ब्राह्मण-वर्ग में राज्य और लोक के हितसाधन की तत्परता झलक रही है।

(१०) केवट के दूर से ऋषि को प्रणाम करने और ऋषि के उसे आलिंगन करने में उभय पक्ष का व्यवहार-सौष्ठव प्रकाशित हो रहा है।"

(११) वन्य कोल किरातों के प्रति सब का कैसा मृदुल और सुशील व्यवहार है।

कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानव स्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे। इस शक्ति की परीक्षा का रामचरित से बढ़कर विस्तृत क्षेत्र और कहाँ मिल सकता है! जीवन-स्थिति के इतने भेद और कहाँ दिखाई पड़ते हैं! इस क्षेत्र में जो कवि सर्वत्र पूरा उतरता दिखाई पड़ता है, उसकी भावुकता को और कोई नहीं पहुँच सकता। जो केवल दाम्पत्य रति ही में अपनी भावुकता प्रकट कर सकें या वीरोत्साह ही का अच्छा चित्रण कर सकें, वे पूर्ण भावुक नहीं कहे जा सकते। पूर्ण भावुक वे ही हैं जो जीवन की प्रत्येक स्थिति के मर्मस्पर्शी अंश का साक्षात्कार कर सकें और उसे श्रोता या पाठक के सम्मुख अपनी शब्दशक्ति द्वारा प्रत्यक्ष कर सकें। हिंदी के कवियों में इस प्रकार की सर्वांगपूर्ण भावुकता हमारे गोस्वामी जी में ही है जिसके प्रभाव से रामचरित मानस उत्तरीय भारत की सारी जनता के गले का हार हो रहा है। वात्सल्य भाव का अनुभव करके पाठक तुरंत बालक राम-लक्ष्मण के प्रवास का उत्साहपूर्ण जीवन देखते हैं जिसके भीतर आत्मावलंबन का विकाश होता है। फिर आचार्य्य-विषयक रति का स्वरूप देखते हुए वे जनकपुर में जाकर सीताराम के परम पवित्र दांपत्य भाव के दर्शन करते हैं। इसके उपरांत अयोध्या-त्याग के करुण दृश्य के भीतर भाग्य की अस्थिरता का कटु स्वरूप सामने आता है। तदनंतर पथिक वेशधारी राम-जानकी के साथ साथ चलकर पाठक ग्रामीण स्त्री-पुरुषों के उस विशुद्ध सात्त्विक प्रेम का अनुभव

करते हैं जिसे हम दांपत्य, वात्सल्य आदि कोई विशेषण नहीं दे सकते, पर जो मनुष्यमात्र में स्वाभाविक है।

रमणीय वन पर्वत के बीच एक सुकुमारी राजवधू को साथ लिए दो वीर आत्मावलंबी राजकुमारों को विपत्ति के दिनों को सुख के दिनों में परिवर्तन करते पाकर वे "वीरभोग्या वसुंधरा" की सत्यता हृदयंगम करते हैं। सीताहरण पर विप्रलंभ-शृंगार का माधुर्य्य देखकर पाठक फिर लंकादहन के अद्भुत, भयानक और वीभत्स दृश्य का निरीक्षण करते हुए राम-रावण युद्ध के रौद्र और युद्धवीर तक पहुँचते हैं। शांत रस का पुट तो बीच बीच में बराबर मिलता ही है। हास्य रस का पूर्ण समावेश रामचरितमानस के भीतर न करके नारदमोह के प्रसंग में उन्होंने किया है। इस प्रकार काव्य के गूढ़ और उच्च उद्देश्य को समझनेवाले, मानव जीवन के सुख और दुःख दोनों पक्षों के नाना रूपों के मर्मस्पर्शी चित्रण को देखकर गोस्वामी जी के महत्त्व पर मुग्ध होते हैं; और स्थूल वहिरंग दृष्टि रखनेवाले भी लक्षण-ग्रंथों में गिनाए हुए नवरसों और अलंकारों पर अपना आह्लाद प्रकट करते हैं।

यहाँ पर कहा जा सकता है कि गोस्वामी जी मनुष्य-जीवन की बहुत अधिक परिस्थितियों का जो सन्निवेश कर सके, वह रामचरित की विशेषता के कारण। इतने अधिक प्रकार की मानव दशाओं का सन्निवेश आप से आप हो गया। ठीक है, पर उन-सब दशाओं का यथातथ्य चित्रण बिना हृदय की विशालता, भावप्रसार की शक्ति, मर्मस्पर्शी स्वरूपों की उद्भावना और शब्दशक्ति की सिद्धि के नहीं हो सकता। मानव प्रकृति के जितने अधिक रूपों के साथ गोस्वामी जी के हृदय का रागात्मक सामंजस्य हम देखते हैं, उतना अधिक हिंदी भाषा के और किसी कवि के हृदय का नहीं। यदि कहीं सौं-दर्य है तो प्रफुल्लता, शक्ति है तो प्रणति, शील है तो हर्षपुलक, गुण है तो आदर; पाप है तो घृणा, अत्याचार है तो क्रोध, अलौकिकता

है तो विस्मय, पाखंड है तो कुढ़न, शोक है तो करुणा, आनंदोत्सव है तो उल्लास, उपकार है तो कृतज्ञता, महत्व है तो दीनता तुलसीदास जी के हृदय में बिंब-प्रतिबिंब भाव से विद्यमान है।

गोस्वामी जी की भावात्मक सत्ता का अधिक विस्तार स्वीकार करते हुए भी यह पूछा जा सकता है कि क्या उनके भावों में पूरी गहराई या तीव्रता भी है ? यदि तीव्रता न होती, भावों का पूर्ण उद्रेक उनके वचनों में न होता, तो वे इतने सर्वप्रिय कैसे होते ? भावों के साधारण उद्गार से ही सब की तृप्ति नहीं हो सकती। यह बात अवश्य है कि जो भाव सब से अधिक प्रकृतिस्थ है, उसकी व्यंजना सब से अधिक गूढ़ और ठीक है। जो प्रेमभाव अत्यंत उत्कर्ष पर पहुँचा हुआ उन्होंने प्रकट किया है, वह अलौकिक है, अविचल है और अनन्य है। वह घन और चातक का प्रेम है।

एक भरोसो, एक बल, एक आस बिस्वास।
एक राम घनस्याम हित, चातक तुलसीदास ॥

अपना उद्देश्य वह आप ही है। उसकी प्यास, उसकी उत्कंठा सदा बनी रहे, इसीमें उसकी मर्य्यादा है; इसीमें उसका महत्त्व है—

चातक तुलसी के मते स्वातिहु पियै न पानि।
प्रेमतृषा बाढ़ति भली, घटे घटैगी आनि ॥

प्रिय के लाख दुर्व्यवहार से भी वह हटनेवाला नहीं है—

बरषि परुष पाहन पयद पंख करौ टुक टूक।
तुलसी परी न चाहिए चतुर चातकहि चूक ॥
उपल बरषि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर ?

वह मेघ के लोकहितकर स्वरूप के प्रति आप से आप है— वह जगत् के हित को देखकर है—

जीव चराचर जहँ लग हैं सब को हित मेह।
तुलसी चातक मन बस्यौ घन सौं सहज सनेह ॥

जगत् में सब अपने सुख के लिये अनेक साधन और यत्न करते हैं और फलप्राप्ति से सुखी होते हैं। फिर चातक और मेघ का यह प्रेम कैसा है जिसके भीतर न किसी सुख का साधन है, न फल की चाह! यह ऐसा ही कुछ है—

साधन साँसति सब सहत, सबहि सुखद फल लाहु।
तुलसी चातक जलद की रीझि-बूझि बुध काहु॥

चातक को मेघ का जीवों को सुख देना अत्यंत प्रिय लगता है। वह जो बारहो महीने चिल्लाता रहता है, सो अधिकतर प्रिय के इस सुखदायक मनोहर रूप के दर्शन के लिये, केवल स्वाति की दो बूँदों के लिये नहीं—

जाँचै बारह मास पियै पपीहा स्वाति-जल।

उसकी याचना के भीतर जगत् की याचना है, अतः इस याचना से उसका मान है। इस माँगने को वह अपना माँगना नहीं समझता—

नहिं जाचत नहिं संग्रही सीस नाइ नहिं लेइ।
ऐसे मानी माँगनेहि को बारिद बिनु देइ॥

अब इस प्रेम की अनन्यता का स्वरूप देखिए—

चरग चंगुगत चातकहिं नेम प्रेम की पीर।
तुलसी परबस हाड़ पर परिहै पुहमी नीर॥
बध्यो बधिक, पर्यो पुन्यजल, उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक-प्रेम-पट मरतहुँ लगी न खोंच॥

चातक का प्रिय लोक-सुखदायी है। उसका मेघ सचमुच बड़ा है और सब के लिये बड़ा है। अतः चातक के प्रेम के भीतर महत्त्व की आनंदमयी स्वीकृति छिपी हुई है। इस महत्त्व के सम्मुख वह जो दीनता प्रकट करता है वह सच्ची दीनता है, हृदय के भीतर अनुभव की हुई दीनता है, प्रेम की दीनता है। किसी के महत्त्व की सच्ची अनुभूति से उत्पन्न दीनता से भिन्न दीनता को लोभ भय आदि का बदला हुआ रूप समझिए। जिससे बड़ा चातक और किसी को

नहीं समझता, उसे छोड़ यदि और किसी के सामने वह दीनता प्रकट करे तो उसकी दीनता की सचाई में फर्क आ जाय, उसके प्रेम की अनन्यता भंग हो जाय। जो आज एक से कहता है कि "आप से न माँगें तो और किससे माँगने जायँगे ?" और कल दूसरे से, वह उस दैन्य तक पहुँच ही नहीं सकता जो भक्ति का अंग है। जिस महत्त्व के प्रति सच्ची दीनता प्रकट की जाती है, उसका कुछ आभास लोक को उस दीनता में दिखाई पड़ता है—

तीनि लोक तिहुँकाल जस चातक ही के माथ।
तुलसी जासु न दीनता सुनी दूसरे नाथ॥

इस प्रेम के संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि यह समान के प्रति नहीं है, अपने से बड़े या ऊँचे के प्रति है। गोस्वामी जी अपने से बड़े या छोटे के साथ प्रेम करने को समान के साथ प्रेम करने से अच्छा समझते हैं—

कै लघु कै बड़ मीत भल, सम सनेह दुख सोइ।
तुलसी ज्यों घृत मधु सरिस मिले महाविष होइ॥

इससे उनका भीतरी अभिप्राय यह है कि छोटे बड़े के संबंध में धर्मभाव अधिक है। यदि प्रिय हमसे छोटा है तो उस पर जो हमारा प्रेम होगा वह दया, दाक्षिण्य, अनुकंपा, क्षमा, साहाय्य इत्यादि वृत्तियों को उभारेगा; यदि प्रिय हमसे बड़ा है तो उस पर आलंबित प्रेम, श्रद्धा, सम्मान, दैन्य, नम्रता, संकोच, कृतज्ञता, आज्ञाकारिता इत्यादि को जाग्रत करेगा। इसमें तो कुछ कहना ही नहीं कि हमारे गोस्वामी जी का प्रेम दूसरे प्रकार का था—वह पूज्य-बुद्धि-गर्भित होकर भक्ति के रूप में था। उच्चता की जैसी प्राप्ति उच्च को आत्म-समर्पण करने से हो सकती है, वैसी समान को आत्मसमर्पण करने से नहीं। यह तो पहले ही दिखाया जा चुका है कि शील बाबा जी द्वारा निरूपित भक्ति के आलंबन के स्वरूप के—आभ्यंतर स्वरूप के सही—अंतर्गत है। भक्ति और शील की परस्पर स्थिति ठीक उसी

प्रकार बिंब-प्रतिबिंब भाव से है जिस प्रकार आश्रय और आलंबन की। और आगे चलिए तो आश्रय और आलंबन की परस्पर स्थिति भी ठीक वही मिलती है जो ज्ञाता और ज्ञेय की है। हमें तो ऐसा दिखाई पड़ता है कि जो ज्ञान-क्षेत्र में ज्ञाता और ज्ञेय है, वही भाव-क्षेत्र में आश्रय और आलंबन है। ज्ञान की जिस चरम सीमा पर जाकर ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते हैं, भाव की उसी चरम सीमा पर जाकर आश्रय और आलंबन भी एक हो जाते हैं। शील और भक्ति का अभेद देखने को इतना विवेचन बहुत है।

दाम्पत्य प्रेम का दृश्य भी गोस्वामी जी ने बहुत ही सुन्दर दिखाया है, पर बड़ी ही मर्य्यादा के साथ। नायिकाभेदवाले कवियों का सा, या कृष्ण की रासलीला के रसिकों का सा लोक-मर्य्यादा का उलंघन उसमें कहीं नहीं है। सीता-राम के परम पुनीत प्रणय की जो प्रतिष्ठा उन्होंने मिथिला में की, उसकी परिपक्वता जीवन की भिन्न भिन्न दशाओं के बीच पति-पत्नी के संबंध की उच्चता और रमणीयता संघटित करती दिखाई देती है। अभिषेक के राम को बन जाने की आज्ञा मिलती है। आनंदोत्सव का सारा दृश्य करुण दृश्य में परिणत हो जाता है। राम वन जाने को तैयार हैं और वन के क्लेश बताते हुए सीता को घर रहने के लिये कहते हैं। इस पर सीता कहती हैं—

वन दुख नाथ कहे बहुतेरे। भय-विषाद परिताप घनेरे॥
प्रभु वियोग, लवलेस समाना। सब मिलि होंहिं न कृपानिधाना॥
कुस किसलय साथरी सुहाई। प्रभु सँग मंजु मनोज तुराई॥
कंदमूल फल अमिय अहारू। अवध सौधसत सरिस पहारू॥
मोहि मग चलत न होइहि हारी। छिनु छिनु चरन सरोज निहारी॥
पायँ पखारि बैठि तरु छाहीं। करिहौं बाउ मुदित मन माहीं॥
बार बार मृदु मूरति जोही। लागिहि ताति बयारि न मोही॥

दुःख की परिस्थिति में सुख की इस कल्पना के भीतर हम

जीवन-यात्रा में श्रान्त पथिक के लिये प्रेम की शीतल सुखद छाया देखते हैं। यह प्रेम-मार्ग निराला नहीं है, जीवन-यात्रा के मार्ग से अलग होकर जानेवाला नहीं है। यह प्रेम कर्मक्षेत्र से अलग नहीं करता, उसमें बिखरे हुए काँटों पर फूल बिछाता है। राम-जानकी को नंगे पाँव चलते देख ग्रामवासी कहते हैं—

जौ जगदीस इन्हहिं बन दीन्हा।

कस न सुमनमय मारग कीन्हा ?॥

थोड़ी दूर साथ चलकर उन्होंने जान लिया होगा कि उनका माग 'सुमनमय' ही है। प्रेम के प्रभाव से जंगल में भी मंगल था। सीता को तो सहस्रों अयोध्या का सुख वहाँ मिल रहा था—

नाह नेह नित बढ़त बिलोकी। हरषित रहति दिवस जिमि कोकी॥
सियमन रामचरन अनुरागा। अवध-सहस-सम बन प्रिय लागा॥
परनकुटी प्रिय प्रियतम संगा। प्रिय परिवार कुरंग बिहंगा॥
सासु ससुर सम मुनितिय मुनिवर। असन अमिय सम कंदमूल फर॥

अयोध्या से अधिक सुख का रहस्य क्या है? प्रिय के साथ सहयोग के अधिक अवसर। अयोध्या में सहयोग और सेवा के इतने अवसर कहाँ मिल सकते थे? जीवनयात्रा की स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति वन में अपने हाथों से करनी पड़ती थी। कुटी छाना, स्थान स्वच्छ करना, जल भर लाना, ईंधन और कंदमूल इकट्ठा करना इत्यादि वहाँ के नित्य-जीवन के अंग थे। ऐसे प्राकृतिक जीवन में प्रेम का जो विकास हो सकता है, वह कृत्रिम जीवन में दुर्लभ है। प्रिय के प्रयत्नों में ऐसे ही स्वाभाविक "सहयोग" की अभिलाषिणी एक ग्रामीण नायिका कहती है—

आगि लागि घर जरिगा, बड़ सुख कीन।

पिय के हाथ घइलवा भरि भरि दीन॥

दूसरा कारण इस सुख का था हृदय का प्रकृति के अनेक रूपों के साथ सामंजस्य, जिसके प्रभाव से 'कुरंग-बिहंग' अपने परिवार

के भीतर जान पड़ते थे। उस जगज्जननी जानकी का हृदय ऐसा न होगा तो और किसका होगा जिसे एक स्थान पर लगाए हुए फूल पौधों को छोड़कर दूसरे स्थान पर जाते हुए भी दुःख होता था।

सीताहरण होने पर इस प्रेम को हम एक ऐसे मनोहर क्षेत्र का द्वार खोलते हुए पाते हैं जिसमें बल और पराक्रम अपनी परमावस्था को पहुँचकर अनीति और अत्याचार का ध्वंस कर देता है। वन में सीता का वियोग चारपाई पर करवटें बदलवानेवाला प्रेम नहीं है—चार कदम पर मथुरा गए हुए गोपाल के लिये गोपियों को बैठे बैठे रुलानेवाला वियोग नहीं है, भाड़ियों में थोड़ी देर के लिये छिपे हुए कृष्ण के निमित्त राधा की आँखों से आँसुओं की नदी बहानेवाला वियोग नहीं है—यह राम को निर्जन वनों और पहाड़ों में घुमानेवाला, सेना एकत्र करानेवाला, पृथ्वी का भार उतरवानेवाला वियोग है। इस वियोग की गंभीरता के सामने सूरदास द्वारा अंकित वियोग अतिशयोक्ति-पूर्ण होने पर भी बाल-क्रीड़ा सा लगता है।

हनुमान के प्रकट होने के पहले जानकी उद्विग्न होकर कह रही थीं—

पावकमय ससि स्रवत न आगी। मानहुँ मोहिं जानि हतभागी॥
सुनिय विनय मम बिटप अशोका। सत्य नाम करु हरु मम शोका॥
नूतन किसलय अनल समाना। देहि अगिनि जिनि करहि निदाना॥

इतना कहते ही हनुमान का मुद्रिका गिराना और सीता का उसे अंगार समझकर हाथ में लेना गोस्वामी जी का ही वस्तु-विन्यास-कौशल प्रकट करता है; क्योंकि वाल्मीकि रामायण में इसका कोई उल्लेख ही नहीं है। हनुमान को सामने पाकर सीता उसी मर्यादा के साथ अपने वियोग-जनित दुःख की व्यंजना करती हैं जिस मर्य्यादा के साथ माता पुत्र के सामने कर सकती है। वे

पहले 'अनुजसहित' राम का (अकेले राम का नहीं) कुशल पूछती हैं: फिर कहती हैं–

कोमलचित कृपालु रघुराई । कपि केहि हेतु धरी निठुराई ॥
सहज बानि सेवक सुखदायक । कबहुँक सुरति करत रघुनायक ?
कबहुँ नयन मम सीतल ताता । होइहहिं निरखि स्याम मृदुगाता ॥

प्रिय के कुशलमंगल के हेतु व्यग्रता भारतीय ललनाओं के वियोग का प्रधान लक्षण है। प्रिय सुख में है या दुःख में है, यह संशय विरह में दया या करुण भाव का हलका सा मेल कर देता है। भारत की कुलवधू का विरह आवारा आशिकों-माशूकों का विरह नहीं है, वह जीवन के गांभीर्य को लिए हुए रहता है। यह वह विरह नहीं है जिसमें विरही अपना ही जलना और मरना देखता है; प्रिय मरता है कि जीता है, इससे कोई मतलब नहीं।

पवित्र दांपत्य-रति की कैसी मनोहर व्यंजना उन्होंने सीता द्वारा उस समय कराई है जब ग्राम-वनिताओं ने मार्ग में राम को दिखाकर उनसे पूछा था कि "ये तुम्हारे कौन हैं ?"

कोटि मनोज लजावनहारे । सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे ॥
सुनि सनेहमय मंजुल बानी । सकुचि सीय मन महँ मुसुकानी ॥
तिन्हहिं बिलोकि बिलोकति धरनी । दुहुँ सँकोच सकुचति वर-बरनी ॥
सकुचि सप्रेम बाल मृगनयनी । बोली मधुर बचन पिकबयनी ॥
सहज सुभाय सुभग तन गोरे । नाम लषन लघु देवर मोरे ॥
बहुरि बदन-बिधु अंचल ढाँकी । पिय तन चितै भौंह करि बाँकी ॥
खंजन मंजु तिरीछे नैननि । निजपति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि ॥

कुलवधू की इस अल्प व्यंजना में जो गौरव और माधुर्य है, वह उद्धत प्रेम-प्रलाप में कहाँ ?

शोक का चित्रण भी गोस्वामी जी ने अत्यंत हृदय-द्रावक पद्धति से किया है। शोक के स्थल तुलसीवर्णित रामचरित में दो हैं— एक तो अयोध्या में राम-वनगमन का प्रसंग और दूसरा लंका में

लक्ष्मण को शक्ति लगने का। राम के वन जाने पर जो दुःख फैला, वह शोक ही माना जायगा; वह प्रिय का प्रवास-जन्य दुःख मात्र नहीं है। अभिषेक के समय वनवास बड़े दुःख की बात है—

कैकयिनंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपन कीन्ह।
जेहि रघुनंदन जानकिहिं सुख अवसर दुख दीन्ह॥

अतः परिजनों और प्रजा का दुःख राम की दुःख-दशा समझकर भी था, केवल राम का अलग होना देखकर नहीं—

राम चलत अति भयेउ विषादू। सुनि न जाइ पुर आरत नादू॥

यह विषाद (जो शोक का संचारी है) और यह आर्त्तनाद शोकसूचक है। प्रिय के दुःख वा पीड़ा पर जो दुःख हो, वह शोक है; प्रिय के कुछ दिनों के लिये वियुक्त होने मात्र का जो दुःख हो, वह विरह है। अतः राम के इस दुःखमय प्रवास पर जो दुःख लोगों को हुआ, वह शोक और वियोग दोनों है।

"तुलसी राम वियोग–सोक वस समुझत नहिं समुझाए" में वियोगी और शोकसूचक वाक्य यद्यपि मिले हुए हैं, पर हम चाहें तो उन्हें अलग करके भी देख सकते हैं। शुद्ध वियोग—

जब जब भवन विलोकति सूनो।
तब तब विकल होति कौसल्या, दिन दिन प्रति दुख दूनो॥
को अब प्रात कलेऊ माँगत रूठि चलैगो माई?
स्याम-तामरस नयन स्रवत जल काहि लेहुँ उर लाई* ?

शोक या करुणा की व्यंजना इस प्रकार के वाक्यों में समझिए—

मृदु मूरति सुकुमार सुभाऊ। ताति बाउ तन लाग न काऊ॥
ते बन बसहिं विपति सब भाँती। निदरे कोटि कुलिस सहि छाती॥
राम सुना दुख कान न काऊ। जीवनतरु जिमि जोगवइ राऊ।
ते अब फिरत विपिन पदचारी। कंदमूल फल फूल अहारी॥

*यद्यपि बनगमन के समय राम इतने बच्चे न थे, पर वात्सल्य दिखाने के लिये गोस्वामी जी ने कौशल्या के मुख से ऐसा ही कहलाया है।

दशरथ के मरण पर यह शोक अपनी पूर्ण दशा पर पहुँच जाता है। उस समय की अयोध्या की दशा के वर्णन में पाठकों को करुणा की ऐसी धारा दिखाई पड़ती है, जिसमें पुरवासियों के साथ वे भी मग्न हो जाते हैं—

लागति अवध भयावनि भारी। मानहुँ कालराति अँधियारी॥
घोर जंतु सम पुर-नर-नारी। डरपहिं एकहि एक निहारी॥
घर मसान, परिजन जनु भूता। सुत हित मीत मनहुँ जमदूता॥
बागन्ह विटप बेलि कुम्हिलाहीं। सरित सरोवर देखि न जाहीं॥
विधि कैकयी किरातिनी कीन्हीं। जेहि दव दुसह दसहु दिसि दीन्हीं॥
सहि न सके रघुवर विरहागी। चले लोग सब व्याकुल भागी॥
करि विलाप सब रोवहिं रानी। महाविपति किमि जाइ बखानी॥
सुनि विलाप दुखहू दुख लागा। धीरजहू कर धीरज भागा॥

गोस्वामी जी द्वारा चित्रित राजकुल का यह शोक ऐसा शोक है जिसके भागी केवल पुरवासी ही नहीं, मनुष्यमात्र हो सकते हैं; क्योंकि यह ऐसे आलंबन के प्रति है जिसके थोड़े से दुःख को भी देख मनुष्य कहलानेवाले मात्र न सही तो मनुष्यता रखनेवाले सब करुणार्द्र हो सकते हैं।

दूसरा करुण दृश्य लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का विलाप है। इस विलाप के भीतर शोक की व्यंजना अत्यंत स्वाभाविक रीति से की गई है। उसके प्रवाह में एक क्षण के लिये सारे नियम-व्रत, सारी दृढ़ता बही जाती सी दिखाई देती है—

जौ जनतेउँ बन बंधु-बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू॥

भावदशा का तात्पर्य न समझनेवाले, नीति के नाम पर पाषंड धारण करनेवाले, इसे चरित्रग्लानि समझेंगे या कहेंगे। पर ऐसे प्रिय बंधु का शोक जिसने एक क्षण के लिये भी विपत्ति में साथ न छोड़ा, यदि एक क्षण के लिये सब बातों का विचार छुड़ा देनेवाला न होता तो राम के हृदय की वह कोमलता कहाँ दिखाई पड़ती

जो भक्तों की आशा का अवलंब है ? यह कोमलता, यह सहृदयता सब प्रकार के नियमों से परे है। नियमों से निराश होकर, 'कर्मवाद' की कठोरता से घबराकर, परोक्ष 'ज्ञान' और परोक्ष 'शक्ति' मात्र से पूरा पड़ता न देखकर ही तो मनुष्य परोक्ष 'हृदय' की खोज में लगा और अंत में भक्ति मार्ग में जाकर उस परोक्ष हृदय को उसने पाया। भक्त लोगों का ईश्वर अविचल नियमों की समष्टि मात्र नहीं है, वह क्षमा, दया, उदारता, इत्यादि का अनंत समुद्र है। लोक में जो कुछ क्षमा, दया, उदारता आदि दिखाई देती है, वह उसी समुद्र का एक बिंदु है।

"आत्मग्लानि" का जैसा पवित्र और सच्चा स्वरूप गोस्वामी जी ने दिखाया है, वैसा शायद ही किसी कवि ने कहीं दिखाया हो। आत्मग्लानि का उदय शुद्ध और सात्विक अंतःकरण में ही हो सकता है; अतः भरत से बढ़कर उपयुक्त आश्रय उसके लिये और कहाँ मिल सकता है ? आत्मग्लानि नामक मानसिक शैथिल्य या तो अपनी बुराई का अनुभव आप करने से होता है अथवा किसी बुरे प्रसंग के साथ अपना संबंध लोक में दिखाई पड़ने से उत्पन्न हीनता का अनुभव करने से। भरत जी को ग्लानि थी तो दूसरे प्रकार की, पर बड़ी सच्ची और बड़ी गहरी थी। जिन राम का उन पर इतना गाढ़ा स्नेह था, जिन्हें वे लोकोत्तर श्रद्धा और भक्ति की दृष्टि से देखते आए, उनके विरोधी वे समझे जायँ, यह दुःख उनके लिये असह्य था। इस दुःख के भार से हलके होने के लिये वे छटपटाने लगे, इस घोर आत्मग्लानि का वे हृदय में न रख सके—

को त्रिभुवन मोहिं सरिस अभागी। गति असि तोरि मातु जेहि लागी॥
पितु सुरपुर बन रघुबरकेतू। मैं केवल सब अनरथ-हेतू॥
धिग् मोहिं भयउँ बेनुबन आगी। दुसह-दाह-दुख-दूषन - भागी॥

वे रह रहकर सोचते हैं कि मैं लाख अपनी सफ़ाई दूँ, पर लोक की दृष्टि में निष्कलंक नहीं दिखाई पड़ सकता—

जो पै हौं मातु मते महँ ह्वैहौं।
तौ जननी जग में या मुख की कहाँ कालिमा ध्वैहौं?
क्यों हौं आज होत सुचि सपथनि? कौन मानिहै साँची?
महिमा-मृगी कौन सुकृती की खल-बच-बिसिखन बाँची?
गहि न जाति रसना काहू की, कहौ जाहि जो सूझै?
दीनबंधु कारुण्यसिंधु बिनु कौन हिये की बूझै?

कैकेयी को सामने पाकर इस ग्लानि के साथ अमर्ष का संयोग हो जाता है। उसकी पवित्रता के सामने माता के प्रति यह अवज्ञा कैसी मनोहर दिखाई पड़ती है—

(क) जौ पै कुरुचि रही अति तोहीं। जनमत काहे न मारेसि मोहीं॥
पेड़ काटि तैं पालउ सींचा। मीन जियन-हित बारि उलीचा॥
जब तैं कुमति! कुमत जिय ठयऊ। खंड खंड होइ हृदय न गयऊ॥
बर माँगत मन भई न पीरा। गरि न जीह, मुँह परेऊ न कीरा॥
अस को जीव जंतु जग माहीं। जेहि रघुनाथ प्रानप्रिय नाहीं?
भे अति अहित राम तेउ तोही। को तू अहसि सत्य कहु मोहीं?

(ख) ऐसे तैं क्यों कटु बचन कह्यो, री?
"राम जाहु कानन" कठोर तेरे कैसे धौं हृदय रह्यो री?
दिनकर बंस, पिता दसरथ से राम-लखन से भाई।
जननी! तू जननी तो कहा कहौं? बिधि केहि खोरि न लाई?
"हौं लहिहौं सुख राजमातु ह्वै, सुत सिर छत्र धरैगो।"
कुल-कलंक-मल-मूल मनोरथ तव बिनु कौन करैगो?
ऐहैं राम सुखी सब ह्वैहैं, ईस अजस मेरो हरिहैं?
तुलसीदास मो को बड़ो सोच, तू जनम कौन बिधि भरिहै?

एक बार तो संसार की ओर देखकर भरत जी अयश छूटने से निराश होते हैं; पर फिर उन्हें आशा बँधती है और वे कैकेयी से कहते हैं कि ईश मेरा तो अयश हरेंगे, मैं तो मुँह दिखाने लायक हो जाऊँगा; पर तू अपने दिन कैसे काटेगी? वे समझते हैं कि राम के

आते ही मेरा अयश दूर हो जायगा। उनको विश्वास है कि सारा संसार मुझे दोषी माने, पर सुशीलता की मूर्ति राम मुझे दोषी नहीं मान सकते।

परिहरि राम सीय जगमाहीं। कोउ न कहहि मोर मत नाहीं॥

राम की सुशीलता पर भरत को इतना अविचल विश्वास है! वह सुशीलता धन्य है जिस पर इतना विश्वास टिक सके; और वह विश्वास धन्य है जो सुशीलता पर इस अविचल भाव से जमा रहे! भरत की आशा का एक मात्र आधार यही विश्वास है। कौशल्या के सामने जिन वाक्यों द्वारा वे अपनी सफ़ाई देते हैं, उनके एक एक शब्द से अंतःकरण की स्वच्छता झलकती है। उनकी शपथ उनकी अंतर्वेदना की व्यंजना है—

जे अघ मातु, पिता, सुत मारे। गाय गोठ महिसुर-पुर जारे॥
जे अघ तिय बालक बध कीन्हे। मीत महीपति माहुर दीने॥
जे पातक उपपातक अहहीं। करम-बचन-मन-भव कवि कहहीं॥
ते पातक मोहिं होहु विधाता। जौं एहु होइ मोर मत, माता!

इस सफ़ाई के सामने हज़ारों वकीलों की सफ़ाई कुछ नहीं है, इन क़समों के सामने लाखों क़समें कुछ नहीं हैं। यहाँ वह हृदय खोलकर रख दिया गया है जिसकी पवित्रता को देख जो चाहे अपना हृदय निर्मल कर ले।

हास्य रस का एक अच्छा छींटा नारद-मोह के प्रसंग में मिलता है। नारद जी बंदर का मुँह लेकर स्वयंवर की सभा में एक राजकन्या को मोहित करने बैठे हैं—

काहु न लखा सो चरित विसेखा। सो सरूप नृप-कन्या देखा॥
मर्कट बदन भयंकर देही। देखत हृदय क्रोध भा तेही॥
जेहि दिसि बैठे नारद फूली। सो दिसि तेहि न बिलोकी भूली॥
पुनि पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं। देखि दसा हरगन मुसुकाहीं॥

गोस्वामी जी का यह हास भी मर्यादा के साथ है, 'स्मित' हास

है, बड़े लोगों का हास है। उस पर भी उद्देश्य-गर्भित है, निरा हास ही हास नहीं है। यह मोह और अहंकार छुड़ाने का एक साधन है। इसके आलंबन का स्वरूप भी विदूषकों का सा कृत्रिम नहीं है।

हास के अतिरिक्त बालविनोद की सामग्री देखनी हो, तो सुंदर कांड में एक लंबी पूँछ के बंदर को पूँछ में लुक बाँधकर नाचते हुए और राक्षसों के लड़कों को ताली बजा बजाकर कूदते हुए देखिए। थोड़ी देर वहीं ठहरने पर ऐसा भयानक और बीभत्स कांड देखने को मिलेगा, जो भुलाए न भूलेगा। कवितावली में लंकादहन का बड़ा ही विस्तृत और पूर्ण चित्रण है। देखिए, कैसा आवेगपूर्ण भय है—

(क) "लागि, लागि आगि" भागि भागि चले जहाँ तहाँ,
धीय को न माय, बाप पूत न सँभारहीं।
छूटे बार, बसन उघारे, धूम धुंध अंध,
कहैं बारे बूढ़े "बारि बारि" बार बारहीं॥
हय हिहिनात भागे जात, घहरात गज,
भारी भीर ठेलि पेलि रौंदि खौंदि डारहीं।
नाम लै चिलात, बिललात अकुलात अति,
तात, तात! तौंसियत, झौंसियत झारहीं॥

(ख) लपट कराल ज्वालजाल-माल दहूँ दिसि,
धूम अकुलाने पहिचानै कौन काहि रे।
पानी को ललात, बिललात जरे गात जात,
परे पाइमाल जात, भ्रात तू निबाहि रे।
'प्रिया तू पराहि, नाथ! तू पराहि,
'बाप, बाप! तु पराहि, पूत, पूत! पराहि रे।
तुलसी बिलोकि लोग ब्याकुल बिहाल कहैं,
"लेहि दससीस अब बीस चख चाहि रे"।

इसी लंकादहन के भीतर यह बीभत्स कांड सामने आता है—

हाट बाट हाटक पिघलि घी सो घनो,

कनक कराही लंक तलफति ताय सों।

नाना पकवान जातुधान बलवान सब,

पागि पागि ढेरी कीन्हीं भली भाँति भाय सों।

पिशाचिनियों और डाकिनियों की बीभत्स क्रीड़ा का जो कवि-प्रथानुसार वर्णन है, वह तो है ही, जैसे—

ओझरी की झोरी काँधे, आँतनि की सेल्ही बाँधे,

मूँड़ के कमंडलु, खपर किए कोरि कै।

जोगिनी झुटुंग झुंड झुंड बनी तापसी सी,

तीर तीर बैठीं सो समरसरि खोरि कै।

सोनित सों सानि सानि गूदा खात सतुआ से,

प्रेत एक पियत बहोरि घोरि घोरि कै।

तुलसी बैताल भूत साथ लिए भूतनाथ,

हेरि हेरि हँसत हैं हाथ हाथ जोरि कै।

क़वायद की पूरी पाबंदी के साथ बहुत थोड़े में रौद्र रस का उदाहरण देखना हो, तो यह देखिए—

माषे लखन कुटिल भइँ भौंहैं। रदपट फरकत नयन रिसौहैं॥
रघुबंसिन महँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहै न कोई॥

इसमें अनुभाव भी है, अमर्ष संचारी भी है। संभव है, कुछ लोगों को "रिसौहैं" शब्द के कारण 'स्वशब्दवाच्यत्व' दोष दिखाई पड़ः पर अनुभाव आदि द्वारा पूर्ण व्यंजना हो जाने पर विशेषण रूप में 'भाव' का नाम आ जाना दोष नहीं कहा जा सकता।

युद्धवीर के उदाहरणों से तो सारा लंकाकांड भरा पड़ा है। 'उत्साह' नामक भाव की भी व्यंजना अत्यंत उत्कर्ष को पहुँची हुई है और युद्ध के दृश्य का चित्रण भी बड़ा ही उग्र और प्रचंड है। वीररस का वर्णन-कौशल उन्हों ने तीन शैलियों के भीतर दिखाया है—प्राचीन राजपूत काल के चारणों की छप्पयवाली ओजस्विनी

शैली के भीतर; इधर के फुटकरिए कवियों की दंडकवाली शैली के भीतर; और अपनी निज की गीतिकावाली शैली के भीतर। नीचे तीनों का क्रमशः एक एक उदाहरण दिया जाता है—

(१) कतहुँ विटप भूधर उपारि परसेन वरक्खत।
कतहुँ बाजि सों बाजि, मर्दि गजराज करक्खत॥
चरन चोट चटकन चकोट अरि उर सिर वज्जत।
विकट कटक विद्दरत वीर वारिद जिमि गज्जत॥
लंगूर लपेटत पटकि भट "जयति राम, जय" उच्चरत।
तुलसीस पवननंदन अटल जुद्ध, क्रुद्ध कौतुक करत॥

(२) दबकि दबोरे एक, वारिध में बोरे एक,
मगन मही में एक गगन उड़ात हैं।
पकरि पछारे, कर चरन उखारे, एक
चीरि फारि डारे, एक मींजि मारे लात हैं॥
तुलसी लखत राम रावन, विबुध विधि,
चक्रपानि चंडीपति चंडिका सिहात हैं।
बड़े बड़े बानइत वीर बलवान बड़े,
जातुधान-जूथप निपाते बातजात हैं॥

(३) भए क्रुद्ध जुद्ध-विरुद्ध रघुपति त्रोन सायक कसमसे।
कोदंड धुनि अति चंड सुनि मनुजाद सब मारुत ग्रसे॥
मंदोदरी उर—कंप कंपति कमठ भू भूधर त्रसे।
चिक्करहिं दिग्गज दसन गहि महि, देखि कौतुक सुर हँसे॥

धनुष चढ़ाने के लिये राम और लक्ष्मण का उत्साह और धनुर्भंग की प्रचंडता का वर्णन भी अत्यंत वीरोल्लास-पूर्ण है। जनक के वचन पर उत्तेजित होकर लक्ष्मण कहते हैं—

सुनहु भानुकुल-कमल-भानु! जौ अब अनुसासन पावौं।
का बापुरो पिनाकु? मेलि गुन मंदर मेरु नवावौं॥

देखौ निज किंकर को कौतुक, क्यों कोदंड चढ़ावौं।
लै धावौं, भंजौं मृनाल ज्यों तौ प्रभु अनुज कहावौं॥

धनुष टूटने पर—

डिगति उर्वि अति गुर्वि, सर्व पब्वै समुद्र सर।
ब्याल वधिर तेहि काल, विकल दिगपाल चराचर॥
दिग्गयंद लरखरत, परत दसकंठ मुक्ख भर।
सुर विमान हिमभानु भानु संघटित परस्पर॥
चौंके विरंचि संकर सहित, कोल कमठ अहि कलमल्यो।
ब्रह्मांड खंड कियो चंड धुनि जवहिं राम सिवधनु दल्यो॥

धनुभंग के इस वर्णन में प्रश्न यह उठता है कि इसमें प्रदर्शित 'उत्साह' का आलंबन क्या है? प्रचलित साहित्य-ग्रंथों में देखिए तो युद्धवीर का आलंवन विजेतव्य ही मिलेगा। यह विजेतव्य शत्रु या प्रतिपक्षी ही हुआ करता है। अतः यहाँ विजेतव्य धनुष ही हो सकता है। पर पृथ्वी पर पड़ा हुआ जड़ धनुष मनुष्य के हृदय में उठाने या तोड़ने का उत्साह किस तरह जाग्रत करेगा, यह समझते नहीं बनता है। वह तो पड़ा पड़ा ललकार नहीं रहा है। यदि किसी मनुष्य में इतना साहस और बल है कि वह बड़ी बड़ी चट्टानों को उठा सकता है, तो पहाड़ पर जाकर उसकी क्या दशा होगी? अतः हमारी समझ में उत्साह का आलंबन कोई विकट या दुष्कर 'कर्म' ही होता है।

लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम की व्याकुलता देख कार्य्य-तत्परता की मूर्ति हनुमान कहते हैं—

जौ हौं अब अनुसासन पावौं।
तौ चंद्रमहिं निचोरि चैल ज्यों आनि सुधा सिर नावौं॥
कै पाताल दलौं ब्यालावलि अमृतकुंड महि लावौं॥
भेदि भुवन करि भानु वाहिरो तुरत राहु दै तावौं॥
बिबुध-वैद बरबस आनौं धरि तौ प्रभु अनुज कहावौं॥
पटकौं मीच नीच मूषक ज्यों सबहि को पापु बहावौं॥

हनुमान् के इस 'वीरोत्साह' का आलंबन क्या है ? क्या चंद्रमा, अश्विनी-कुमार इत्यादि ? खैर, इसका विस्तृत विवेचन अन्यत्र किया जायगा; यहाँ इतना ही निवेदन करके रसज्ञों से क्षमा चाहते हैं।

अब अद्भुत रस का एक उदाहरण देकर यह प्रसंग समाप्त किया जाता है। हनुमान जी पहाड़ हाथ में लिए आकाश मार्ग से अपूर्व वेग के साथ उड़े जा रहे हैं—

लीन्हों उखारि पहार विसाल चल्यो तेहि काल विलंब न लायो।
मारुत-नंदन मारुत को, मन को, खगराज को वेग लजायो॥
तीखी तुरा तुलसी कहतो पै हिये उपमा को समाउ न आयो।
मानो प्रतच्छ परब्बत की नभ लीक लसी कपि यों धुकि धायो॥

इस पद्य के भीतर "मारुत को, मन को, खगराज को" इस वाक्यांश में कुछ 'दुष्क्रमत्व' प्रतीत होता है। मन को सब के पीछे होना चाहिए; मन का वेग जब कह चुके, तब खगराज का वेग उसके सामने कुछ नहीं है। पर समग्र वर्णन से जो चित्र सामने खड़ा होता है, उसके अद्भुत होने में कोई संदेह नहीं। गगनमंडल के बीच पहाड़ की एक लीक सी बँध जाना कोई साधारण व्यापार नहीं है। इस अद्भुतता की योजना भी एक स्वभावसिद्ध व्यापार के आधार पर हुई है और प्रकृति का निरीक्षण सूचित करती है। यह सूचित करती है कि अत्यंत वेग से गमन करती हुई वस्तु की एक लकीर सी बन जाया करती है, इस बात पर कवि की दृष्टि गई है। जिसकी दृष्टि ऐसी ऐसी बातों पर न जाती हो, वह कवि कैसा ? प्रकृति के नाना रूपों को देखने के लिये कवि की आँखें खुली रहनी चाहिएँ; उसका मृदु संगीत सुनने के लिये उसके कान खुले रहने चाहिएँ; और सब का प्रभाव ग्रहण करने के लिये उसका हृदय खुला रहना चाहिए। अद्भुत रस के इस आलंबन द्वारा गोस्वामी जी की वह स्वाभाविक विश्व-व्यापार-ग्राहिणी सहृदयता लक्षित होती है, जो हिंदी के और किसी कवि में नहीं। इस स्वभाव-सिद्ध अद्भुत

व्यापार के सामने "कमल पर कदली, कदली पर कुंड, शंख पर चंद्रमा" आदि कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध रूपकातिशयोक्ति के काग़ज़ी दृश्य क्या चीज़ हैं ? लड़कों के खेल हैं। बालकों या बाल-रुचिवालों का मनोरंजन उनसे होता हो, तो हो सकता है।

गोस्वामी जी ने अपनी इस परिष्कृत और गंभीर रुचि का परिचय अलंकारों की योजना में बराबर दिया है। लंकादहन के प्रसंग में जहाँ हनुमान् जी अपनी जलती हुई लंबी पूँछ इधर से उधर घुमाते हैं, वहाँ भी अपनी 'उत्प्रेक्षा' और 'संदेह' को वे इसी स्वभाव-सिद्ध व्यापार पर टिकाते हैं—

> बालधी बिसाल बिकराल ज्वालजाल मानौ,
> लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है।
> कैधों व्योम-बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
> बीररस बीर तरवारि सी उघारी है।

ध्यान से देखिए तो कई एक व्यापार जो देखने में केवल अलौकिकत्व-विधायक प्रतीत होते हैं, हेतूत्प्रेक्षा के व्यंग्य से अपना प्रकृत स्वरूप खोल देंगे। पथिक वेश में राम लक्ष्मण वन के मार्ग में चले जा रहे हैं (क्षमा कीजिएगा, यह दृश्य हमें बहुत मनोहर लगता है, इसी से बार बार सामने आया करता है)। गोस्वामी जी कहते हैं—

जहँ जहँ जाहिं देव रघुराया। तहँ तहँ मेघ करहिं नभ छाया॥

जिस समय मेघखंड आकाश में बिखरे रहते हैं, उस समय पथिक के मार्ग में कभी धूप पड़ती है कभी छाया। इस छाया पड़ने को देखकर किसी अवसर पर यदि कवि किसी साधारण पुरुष को भी कह दे कि "मेघ भी आपके ऊपर छाया करते चलते हैं" तो उसका यह कहना अस्वाभाविक न लगेगा। इस कथन द्वारा जिस प्रताप आदि की व्यंजना इष्ट होगी, वह उत्प्रेक्षा का हेतु हो जायगा। प्राचीन कवियों में इस प्रकार की सुंदर स्वाभाविक उक्तियाँ अकसर

मिलती हैं जिनमें से किसी किसी को लेकर और उन पर एक साथ कई प्रौढ़ोक्तियाँ लादकर पिछले खेवे के कवियों ने एक भद्दी इमारत खड़ी की है। फल इसका यह हुआ है कि उनमें अतिशयोक्ति ही अतिशयोक्ति रह गई है; जो कुछ स्वाभाविकता थी, वह जान (अपनी कहिए या उन पुरानी उक्तियों की कहिए) लेकर भागी है। उदाहरण के लिये अभिज्ञानशाकुंतल में भौंरा शकुंतला का पीछा किए हुए है और बार बार उसके मुँह की ओर जाता है—

"सलिल सेसंभमुग्गदो, णोमालिअं उज्झिअ वअणं मे महुअरो अहिवट्टइ"

हमारे लाला भिखारीदास जी ने इस उक्ति को पकड़ा और उसके ऊपर यह भारी भर कम ढाँचा खड़ा कर दिया—

आनन है अरविंद न फूले, अलीगन! भूले कहा मंडरात हौ।
कीर कहा तोहि बाई भई भ्रम बिंब के ओठन को ललचात हौ॥
दास जू व्याली न, बेनी रची, तुम पापी कलापी कहा इतरात हौ।
बोलति बाल न बाजत बीन, कहा सिगरे मृग घेरत जात हौ॥

ऐसे संकट में पड़ी हुई नायिका शायद ही कहीं दिखाई पड़े। भ्रमर-बाधा तक तो कोई चिंता की बात नहीं। पर उसके ऊपर यह शुकबाधा, मयूरबाधा और मृगबाधा देख तो हाथ पर हाथ रखकर बैठ ही रहना पड़ेगा।

बहुत लोगों ने देखा होगा कि भौंरे आदमी के पीछे अकसर लग जाते हैं, कान और मुँह के पास मँड़राया करते हैं और हटाने से जल्दी हटते नहीं। इसी बात पर स्त्रियों में यह प्रवाद प्रचलित है कि जब कोई परदेश में होता है, तब उसका सँदेसा कहने के लिये भौंरे आकर कान के पास मँड़राया करते हैं। अतः इस प्रकार की पुरानी उक्तियों में जो सौंदर्य है, वह हमें अतिशयोक्ति में न दिखाई देकर स्वाभावसिद्ध वस्तु द्वारा व्यंग्य हेतूत्प्रेक्षा में दिखाई पड़ता है।

जैसे भौंरा जो बार बार मुँह के पास जाता है, वह मानो मुख का कमल समझने के कारण।

छोटे छोटे संचारी भावों की स्वतंत्र व्यंजना भी गोस्वामी जी ने जिस मार्मिकता से की है, उससे मानवी प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण प्रकट होता है। उन्होंने ऐसे ऐस भावों का चित्रण किया है जिनकी ओर किसी कवि का ध्यान तक नहीं गया है। संचारियों के भीतर वे गिनाए तो गए नहीं हैं। फिर ध्यान जाता कैसे ? सीता के संबंध में राम लोकध्वनि चरों के द्वारा सुनते हैं—

चरचा चरनि सों चरची जानमनि रघुराइ।
दूत-मुख सुनि लोकधुनि घर घरनि बूझी आइ॥

मर्य्यादास्तंभ राम लोकमत पर सीता को वन में भेज देते हैं। लक्ष्मण उन्हें वाल्मीकि के आश्रम में छोड़ आँखों में आँसू भरे लौट रहे हैं। उस अवसर पर—

दीनबंधु दयालु देवर देखि अति अकुलानि।
कहति बचन उदास तुलसीदास त्रिभुवन-रानि॥

ऐसे अवसर पर सीता ऐसी गंभीर-हृदया देवी का यह 'उदासीन भाव' प्रकट करना कितना स्वाभाविक है—

तौ लौं बलि आपुही कीबी विनय समुझि सुधारि।
जौ लौं हा सिखि लेउँ बन ऋषि-रीति बसि दिन चारि॥
तापसी कहि कहा पठवति नृपनि को मनुहारि।
बहुरि तिहि बिधि आइ कहिहै साधु कोउ हितकारि॥
लखन लाल कृपाल! निपटहिं डारिबी न बिसारि।
पालबी सब तापसनि ज्यों राजधर्म बिचारि॥
सुनत सीता बचन मोचत सकल लोचन—वारि।
बालमीकि न सके तुलसी सो सनेह सँभारि॥

काव्य के भाव-विधान में जिस 'उदासीनता' का सन्निवेश होगा, वह खेद-व्यंजक ही होगी—यथार्थ में 'उदासीनता' नहीं होगी।

उसे विषाद, क्षोभ आदि से उत्पन्न क्षणिक मानसिक शैथिल्य समझिए। कैकेयी को समझाते समय मंथरा के मुख से भी इस उदासीनता की व्यंजना गोस्वामी जी ने बड़ी मार्मिकता से कराई है। राम के अभिषेक पर दुःख प्रकट करने के कारण जब मंथरा को कैकेयी बुरा भला कहती है, तब वह कहती है—

हमहुँ कहब अब ठकुरसोहाती। नाहिं त मौन रहब दिन राती॥
कोउ नृप होउ हमहिं का हानी। चेरि छाँड़ि अब होब की रानी॥

हिन्दी कवियों में तुलसी ऐसे भावुक के सिवा इस गूढ़ भाव तक और किसकी पहुँच हो सकती है? और कौन ऐसे उपयुक्त पात्र में और ऐसे उपयुक्त अवसर पर उसका विधान कर सकता है? इस "उदासीनता" के भाव का आविष्कार उन्हीं का काम था। सूरदास ने इसका कुछ आभास मात्र यशोदा के उस सँदेसे में दिया है जो उन्होंने कृष्ण के मथुरा चले जाने पर देवकी के पास भेजा था—

सँदेसो देवकी सो कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो॥

'आश्चर्य' को लेकर कविजन 'अद्भुत रस' का विधान करते हैं जिसमें कुतूहलवर्द्धक बातें हुआ करती हैं। पर इस आश्चर्य से मिलता-जुलता एक और हलका भाव होता है जिसे, कोई और अच्छा नाम न मिलने के कारण हम, 'चकपकाहट' कह सकते हैं और आश्चर्य के संचारी के रूप में रख सकते हैं। पाश्चात्य मनोविज्ञानियों ने दोनों (Wonder और Surprise) में भेद किया है। आश्चर्य किसी विलक्षण बात पर होता है—ऐसी बात पर होता है जो साधारणतः नहीं हुआ करती। 'चकपकाहट' किसी ऐसी बात पर होती है जिसकी कुछ भी धारणा हमारे मन में न रही हो, और जो एकाएक हो जाय। जैसे, किसी दूर देश में रहनेवाले मित्र को सहसा अपने सामने देखकर हम 'चकपका' उठते हैं। राम का सेतु बाँधना सुन रावण चकपकाकर कहता है—

बाँधे बननिधि? नीरनिधि? जलधि? सिन्धु? बारीस?
सत्य, तोयनिधि? कंपती? उदधि ? पयोधि? नदीस?

यह ऐसा ही है जैसा सहसा किसी का मरना सुनकर चकपका कर पूछना—"अरे कौन? रामप्रसाद के बाप? माताप्रसाद के लड़के? शिवप्रसाद के भाई? अमुक स्टेट के मैनेजर?" इस भाव का प्रत्यक्षीकरण भी यह सूचित करता है कि गोस्वामी जी सब भावों को अपने अंतःकरण में देखनेवाले थे, केवल लक्षण-ग्रंथों में देखकर उनका सन्निवेश करनेवाले नहीं।

दूसरों का उपहास करते तो आपने बहुत लोगों को देखा होगा, पर कभी आपने मनुष्य को उस अवस्था पर भी ध्यान दिया है जब वह पश्चात्ताप और ग्लानिवश अपना उपहास आप करता है? गोस्वामी जी ने उस पर भी ध्यान दिया है। उनकी अंतर्दृष्टि के सामने वह अवस्था भी प्रत्यक्ष हुई है। सोने के हिरन के पीछे अपनी सोने की सीता को खोकर राम वन वन विलाप करते फिरते हैं; मृग उन्हें देखकर भागते हैं; और फिर जैसा कि उनका स्वभाव होता है, थोड़ी दूर पर जाकर खड़े हो जाते हैं। इस पर राम कहते हैं—

हमहिं देखि मृगनिकर पराहीं। मृगी कहहिं तुम्ह कँह भय नाहीं॥
तुम आनंद करहु मृगजाए। कंचनमृग खोजन ये आए॥

कैसी क्षोभपूर्ण आत्मनिंदा है!

यहाँ एक और बात ध्यान देने की है। कवि ने मृगों के ही भय का क्यों नाम लिया? मृगियों को भय क्यों नहीं था? बात यह है कि आखेट की यह मर्य्यादा चली आती है कि मादा के ऊपर अस्त्र न चलाया जाय। शिकार खेलनेवालों में यह बात प्रसिद्ध है। यहाँ गोस्वामी जी का लोक-व्यवहार-परिचय प्रकट होता है।

देखिए 'श्रम' की व्यंजना किस कोमलता के साथ गोस्वामी जी करते हैं। सीता राम-लक्ष्मण के साथ पैदल वन की ओर चली हैं—

(क) पुर तें निकसी रघुवीर-वधू, धरि धीर दए मग में डग द्वै।

झलकी भरि भाल कनी जल की, पुट सूखि गए मधुराधर वै ॥
फिरि बूझति है "चलनो अब केतिक, पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै?"
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चली जल च्वै ॥

(ख) "जल को गए लक्खन हैं लरिका,
परिखौ, पिय ! छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े ।
पोंछि पसेउ बयारि करौं,
अरु पायँ पखारिहौं भूभुरि डाढ़े" ।
तुलसी रघुबीर प्रियास्रम जानि कै,
बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े ।
जानकीनाह को नेह लख्यो,
पुलको तनु, बारि बिलोचन बाढ़े ॥

कुलवधू के 'श्रम' की यह व्यंजना कैसी मनोहर है ! यह 'श्रम' स्वतंत्र है, किसी और भाव का संचारी होकर नहीं आया है ।

इस प्रसंग को समाप्त करने का वादा शायद अभी किया जा चुका है। बस, दो बातें और कहनी हैं । कवि लोग अर्थ और वर्ण-विन्यास के विचार से जिस प्रकार शब्द-शोधन करते हैं, उसी प्रकार अधिक मर्मस्पर्शी और प्रभावोत्पादक दृश्य उपस्थित करने के लिये व्यापार-शोधन भी करते हैं । बहुत से व्यापारों में जो व्यापार अधिक प्राकृतिक होने के कारण स्वभावतः हृदय को अधिक स्पर्श करनेवाला होता है, भावुक कवि की दृष्टि उसी पर जाती है। यह चुनाव दो प्रकार से होता है । कहीं तो (१) चुना हुआ व्यापार उपस्थित प्रसंग के भीतर ही होता है या हो सकता है, अर्थात् उस व्यापार और प्रसंग का व्याप्य-व्यापक संबंध होता है और वह व्यापार उपलक्षण मात्र होता है; और कहीं (२) चुना हुआ व्यापार प्रस्तुत व्यापार से सादृश्य रखता है; जैसे, अन्योक्ति में । गोस्वामी जी ने दोनों प्रकार के चुनाव में अपनी स्वाभाविक सहृदयता दिखाई है ।

(१) प्रथम पद्धति का अवलंबन ऐसी स्थिति को अंकित करने में होता है जिसके अंतर्गत बहुत से व्यापार हो सकते हैं और सब व्यापारों का वाच्य एक सामान्य शब्द हुआ करता है; जैसे अत्याचार, दैन्य, दुःख, सुख इत्यादि। अत्याचार शब्द के अंतर्गत डाँटने डपटने से लेकर मारना पीटना, जलाना, स्त्री-बालकों की हत्या करना, न जाने कितने व्यापार समझे जाते हैं। इसी प्रकार दीन दशा के भीतर खाने-पहनने की कमी से लेकर द्वार द्वार फिरना, दाँत निकालकर माँगना, किसी के दरवाज़े पर अड़कर बैठना और हटाने से भी न हटना ये सब गोचर दृश्य आते हैं। इन दृश्यों में जो सब से अधिक मर्मस्पर्शी होता है, भावुक कवि उसी को सामने रखकर, उसी को सब का उपलक्षण बनाकर, स्थिति को हृदयंगम करा देता है। गोस्वामी जी ने अपने दैन्य भाव का चित्रण स्थान स्थान पर इसी पद्धति से किया है। कुछ उदाहरण लीजिए—

(क) कहा न कियो, कहाँ न गयो, सीस काहि न नायो?
हा हा करि दीनता कही, द्वार द्वार बार बार, परी न छार मुँह बायो।
महिमा मान प्रिय प्रान तें तजि, खोलि खलन आगे खिनु खिनु पेट खलायो।

इसका अर्थ यह नहीं है कि तुलसीदास जी सचमुच द्वार द्वार पेट खलाते और डाँट-फटकार सुनते फिरा करते थे।

कहीं राजा राम के द्वार पर खड़े अपनी दीनता का चित्र आप देखते हैं—

राम सों बड़ो है कौन, मो सों कौन छोटो?
राम सों खरो है कौन, मो सों कौन खोटो?

सारी विनयपत्रिका का विषय यही है—राम की बड़ाई और तुलसी की छोटाई। दैन्यभाव जिस उत्कर्ष को गोस्वामी जी में पहुँचा है, उस उत्कर्ष को और किसी भक्त कवि में नहीं। इस भाव-रहस्य से अनभिज्ञ और इस उपलक्षण-पद्धति को न समझनेवाले ऊपर के

पदों को देख यदि कहें कि तुलसीदास जी बड़े भारी मंगन थे, हटाने से जल्दी हटते नहीं थे और खुशामदी भी बड़े भारी थे, तो उनका प्रतिवाद करना समय नष्ट करना ही है। खेद इस बात पर अवश्य होता है कि 'स्वतंत्र आलोचना' का ऐसा स्थूल और भद्दा अर्थ समझनेवाले भी हमारे बीच वर्त्तमान हैं। एक स्थान पर गोस्वामी जी कहते हैं—

खीझिवे लायक करतब कोटि कोटि कटु,
रीझिवे लायक तुलसी की निलजई।

इस पर यदि कोई कह दे कि तुलसीदास जी बड़े भारी बेहया थे, तो उसकी क्या दवा है?

तुलसीदास जी को जब स्वामी के प्रति अपने प्रेम की अनन्यता की इस प्रकार प्रतीति हो जाती है कि "जानत जहान मन मेरे हू गुमान बड़ो, मान्यो मैं न दूसरो, न मानत, न मानिहौं" तब प्रेमाधिक्य से वे कुछ मुँहलगे हो जाते हैं और कभी कभी ऐसी बातें भी कह देते हैं—

हौं अब लौं करतूति तिहारिय चितवत हुतो न रावरे चेते।
अब तुलसी पूतरो बाँधिहै सहि न जात मोपै परिहास एते॥

पर ऐसी गुस्ताख़ी कभी नहीं करते कि "आपने करम भवनिधि पार करौं जौ तो हम करतार, करतार तुम काहे के?"

देखिए, संसार की अशान्ति का चित्र कैसा मर्मस्पर्शी और प्राकृतिक जीवन-व्यापार उपलक्षण के रूप में चुनकर वे अंकित करते हैं—

डासत ही गई बीति निसा सब कबहुँ न, नाथ! नींद भरि सोयो।

(२) प्रस्तुत व्यापार के स्थान पर, उसी के सदृश अप्रस्तुत व्यापार चुनने में भी गोस्वामी जी ने प्रभावोत्पादक प्राकृतिक दृश्यों की परख का पूर्ण परिचय दिया है। प्रेमभाव का उत्कर्ष दिखाने के लिये उन्होंने चातक और मीन को पकड़ा है। दोहावली के भीतर

चातक की अन्योक्तियाँ प्रेमी भक्तों के हृदय का सर्वस्व हैं। यही चातकता और मीनता वे जीवन भर चाहते रहे—"करुणानिधान! वरदान तुलसी चहत सीतापति-भक्ति-सुरसरि-नीर-मीनता।" अन्योक्ति आदि के लिये भी वे तत्काल हृदय में चुभनेवाला दृश्य लाकर खड़ा कर देते हैं। इससे प्रस्तुत विषय के संबंध में जो भाव उत्पन्न करना इष्ट होता है, वह भाव थोड़ी देर के लिये अवश्य उत्पन्न होता है। प्रासादों में सुख से रहनेवाली सीता वन में कैसे रह सकेगी?

नव-रसाल-वन-विहरन-सीला। सोह कि कोकिल विपिन करीला॥

शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण

रस-संचार से आगे बढ़ने पर हम काव्य की उस उच्च भूमि में पहुँचते हैं जहाँ मनोविकार अपने क्षणिक रूप में ही न दिखाई देकर जीवन-व्यापी रूप में दिखाई पड़ते हैं। इसी स्थायित्व की प्रतिष्ठा द्वारा शील-निरूपण और पात्रों का चरित्र-चित्रण होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस उच्च भूमि में आने पर फुटकरिए कवि पीछे छूट जाते हैं; केवल प्रबंध-कुशल कवि ही दिखाई पड़ते हैं। खेद के साथ कहना पड़ता है कि गोस्वामी जी को छोड़ हिंदी का और कोई पुराना कवि इस क्षेत्र में नहीं दिखाई पड़ता। चारण-काल के चंद आदि कवियों ने भी प्रबंध-रचना की है; पर उसमें चरित्र-चित्रण को वैसा स्थान नहीं दिया गया है, वीरोल्लास ही प्रधान है। जायसी आदि मुसलमान कवियों की प्रबंध-धारा केवल प्रेम-पथ का निदर्शन करती गई है। दोनों प्रकार के आख्यानों में मनोविकारों के इतने भिन्न भिन्न प्रकृतिस्थ स्वरूप नहीं दिखाई पड़ते जिन्हें हम किसी व्यक्ति या समुदाय विशेष का लक्षण कह सकें।

रस-संचार मात्र के लिये किसी मनोविकार की एक अवसर पर पूर्ण व्यंजना ही काफ़ी होती है। पर किसी पात्र में उसे शील

रूप में प्रतिष्ठित करने के लिये कई अवसरों पर उसकी अभिव्यक्ति दिखानी पड़ती है। रामचरितमानस के भीतर राम, भरत, लक्ष्मण, दशरथ और रावण ये कई पात्र ऐसे हैं जिनके स्वभाव और मानसिक प्रवृत्ति की विशेषता गोस्वामी जी ने कई अवसरों पर प्रदर्शित भावों और आचरणों की एकरूपता दिखाकर प्रत्यक्ष की है।

पहले राम को लीजिए और इस बात का ध्यान रखिए कि प्रधान पात्र होने के कारण जितनी भिन्न भिन्न परिस्थितियों में उनका जीवन दिखाया गया है, और किसी पात्र का नहीं। भिन्न भिन्न मनोविकारों को उभारनेवाले जितने अधिक अवसर उनके सामने आए हैं, उतने और किसी पात्र के सामने नहीं। लक्ष्मण भी प्रत्येक परिस्थिति में उनके साथ रहे, इससे उनके संबंध में भी यही कहा जा सकता है। सारांश यह कि राम लक्ष्मण के चरित्रों का चित्रण आख्यान के भीतर सबसे अधिक व्यापक होने के कारण सबसे अधिक पूर्ण है। भरत का चरित्र जितना अंकित है, उतना सब से उज्वल, सबसे निर्मल और सबसे निर्दोष है। पर साथ ही यह भी है कि वह उतना अधिक अंकित नहीं है। राम से भी अधिक जो उत्कर्ष उनमें दिखाई पड़ता है, वह बहुत कुछ चित्रण की अपूर्णता के कारण—उतनी अधिक परिस्थितियों में उसके न दिखाए जाने के कारण जितनी अधिक परिस्थितियों में राम-लक्ष्मण का चरित्र दिखाया गया है। पर इसमें भी कोई संदेह नहीं कि जिस परिस्थिति में भरत दिखाए गए हैं, उससे बढ़कर शील की कसौटी हो ही नहीं सकती।

अनंत शक्ति के साथ धीरता, गंभीरता और कोमलता 'राम' का प्रधान लक्षण है। यही उनका 'रामत्व' है। अपनी शक्ति की स्वानुभूति ही उस उत्साह का मूल है जिससे बड़े बड़े दुःसाध्य कर्म होते हैं। बाल्यावस्था में ही जिस प्रसन्नता के साथ दोनों भाइयों ने घर छोड़ा और विश्वामित्र के साथ बाहर रहकर

अस्त्र-शिक्षा प्राप्त की तथा विघ्नकारी विकट राक्षसों पर पहले पहल अपना बल आज़माया, वह उस उल्लासपूर्ण साहस का सूचक है जिसे 'उत्साह' कहते हैं। छोटी अवस्था में ही ऐसे विकट प्रवास के लिये जिनकी धड़क खुलती हमने देखी, उन्हीं का पीछे चौदह वर्ष वन में रहकर अनेक कष्टों का सामना करते हुए जगत् को क्षुब्ध करनेवाले कुंभकर्ण और रावण ऐसे राक्षसों को मारते हुए हम देखते हैं। इस प्रकार जिन परिस्थितियों के बीच वीर-जीवन का विकाश होता है, उनकी परंपरा का निर्वाह हम क्रम से रामचरित में देखते हैं। राम और लक्ष्मण ये दो अद्वितीय वीर हम उस समय पृथ्वी पर पाते हैं। वीरता की दृष्टि से हम कोई भेद दोनों पात्रों में नहीं कर सकते। पर सीता के स्वयंवर में दोनों भाइयों के स्वभाव में जो पार्थक्य दिखाई पड़ा उसका निर्वाह हम अंत तक पाते हैं। जनक के परिताप-वचन पर उग्रता और परशुराम की बातों के उत्तर में जो चपलता हम लक्ष्मण में देखते हैं, उसे हम बराबर अवसर अवसर पर देखते चले जाते हैं। इसी प्रकार राम की जो धीरता और गंभीरता हम परशुराम के साथ बातचीत करने में देखते हैं, वह बराबर आगे आनेवाले प्रसंगों में हम देखते जाते हैं। इतना देखकर तब हम कहते हैं कि राम का स्वभाव धीर और गंभीर था और लक्ष्मण का उग्र और चपल।

धीर, गंभीर और सुशील अंतःकरण की बड़ी भारी विशेषता यह होती है कि वह दूसरे में बुरे भाव का आरोप जल्दी नहीं कर सकता। सारे अवध-वासियों को लेकर भरत को चित्रकूट की ओर आते देख लक्ष्मण कहते हैं—

कुटिल कुबंधु कु-अवसर ताकी। जानि राम बनवास एकाकी॥
करि कुमंत्र मन, साजि समाजू। आए करइ अकंटक राजू॥

और तुरंत इस अनुमान पर उनकी त्योरी चढ़ जाती है—

जिमि करि-निकर दलइ मृगराजू। लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू॥

तैसेहि भरतहि सेन समेता । सानुज निदरि निपातउँ खेता ॥

पर राम के मन में भरत के प्रति ऐसा संदेह होता ही नहीं है। अपनी सुशीलता के बल से उन्हें उनकी सुशीलता पर पूरा विश्वास है। वे तुरंत समझाते हैं—

सुनहु लखन भल भरत सरीसा । विधि-प्रपंच महँ सुना न दीसा ॥
भरतहि होइ न राज-मद विधि-हरि-हर-पद पाइ ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीर-सिंधु बिनसाइ ॥

सुमंत जब राम लक्ष्मण को विदा कर अयोध्या लौटने लगते हैं, तब रामचंद्र जी अत्यन्त प्रेम-भरा सँदेसा पिता से कहने को कहते हैं जिसमें कहीं से खिन्नता या उदासीनता का लेश नहीं है। वे सारथी को बहुत तरह से समझाकर कहते हैं—

सब विधि सोइ करतब्य तुम्हारे । दुख न पाव पितु सोच हमारे ॥

यह कहना लक्ष्मण को अच्छा नहीं लगता। जिस निष्ठुर पिता ने स्त्री के कहने में आकर बनवास दिया, उसे भला सोच क्या होगा? पिता के व्यवहार को कठोरता के सामने लक्ष्मण का ध्यान उनके सत्य-पालन और परवशता की ओर न गया, उनकी वृत्ति इतनी धीर और संयत न थी कि वे इतनी दूर तक सोचने जाते। पिता के प्रति कुछ कठोर वचन वे कहने लगे। पर राम ने उन्हें रोका और सारथी से बहुत विनती की कि लक्ष्मण की ये बातें पिता से न कहना।

पुनि कछु लखन कही कटु बानी । प्रभु बरजेउ बड़ अनुचित जानी ॥
सकुचि राम निज सपथ दिवाई । लखन-सँदेसु कहिय जनि जाई ॥

यह 'सकुचि' शब्द कितना भाव-गर्भित है। यह कवि की सूक्ष्म अंतर्दृष्टि सूचित करता है। मनुष्य का जीवन सामाजिक है। वह समाज-बद्ध प्राणी है। उसे अपने ही आचरण पर लज्जा या संकोच नहीं होता, अपने कुटुम्बी, इष्टमित्र या साथी के भद्दे आचरण पर भी होता है। पुत्र की करतूत सुनकर पिता का सिर नीचा होता है, भाई की करतूत सुनकर भाई का। इस बात का अनुभव तो

हम बराबर करते हैं कि हमारा साथी हमारे सामने यदि किसी से बात चीत करते समय भद्दे या अश्लील शब्दों का प्रयोग करता है, तो हमें लज्जा मालूम होती है। यह संकोच राम की सुशीलता और लोकमर्यादा का भाव व्यंजित करता है। मर्यादापुरुषोत्तम का चरित्र ऐसे ही कवि के हाथ में पड़ने योग्य था।

सुमंत ने अयोध्या लौटकर राजा से लक्ष्मण की कही हुई बातें तो न कहीं, पर इस घटना का उल्लेख बिना किए उससे न रहा गया। क्यों? क्या लक्ष्मण से उससे कुछ शत्रुता थी? नहीं। राम के शील का जो अद्भुत उत्कर्ष उसने देखा, उसे वह हृदय में न रख सका। सुशीलता के मनोहर दृश्य का प्रभाव मानव अंतःकरण पर ऐसा ही पड़ता है। सुमंत को राम की आज्ञा के विरुद्ध कार्य करने का दोष अपने ऊपर लेना क़बूल हुआ, पर उस शील-सौंदर्य की झलक अपने ही तक वह न रख सका, दशरथ को भी उसे उसने दिखाया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस अंतिम झलक ने राजा को और भी उस मृत्यु के पास तक पहुँचा दिया होगा जो आगे चलकर दिखाई गई है। इसे कहते हैं घटना का सूक्ष्म क्रम-विन्यास।

राम और लक्ष्मण के स्वभाव-भेद का बस एक और चित्र दिखा देना काफ़ी होगा। समुद्र के किनारे खड़े होकर समुद्र से विनय करते करते राम को तीन दिन बीत गए। तब जाकर राम को क्रोध आया और "भय बिनु होइ न प्रीति" वाली नीति की ओर उनका ध्यान गया। वे बोले—

लछिमन बान-सरासन आनू। सोखउँ बारिधि बिसिख-कृसानू॥
अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा। यह मत लछिमन के मन भावा॥

जिसके बाण खींचते ही "उठी उदधि उर-अंतर ज्वाला" उसने पहले तीन दिनों तक हर एक प्रकार से विनय की। विनय की मर्यादा पूरी होते ही राम ने अपना अतुल पराक्रम प्रकट किया

जिसे देख लक्ष्मण को संतोष हुआ । विनयवाली नीति उन्हें पसंद न थी । एक बार,दो बार कह देना ही वे काफ़ी समझते थे ।

वाल्मीकि ने राम के वनवास की आज्ञा पर लक्ष्मण का महा क्रोध वर्णन किया है । पर न जाने क्यों वहाँ तुलसीदास जी इसे बचा गए हैं ।

चित्रकूट में अपनी कुटिलता का अनुभव करती हुई कैकेयी से राम बार बार इसलिये मिलते हैं कि उसे यह निश्चय हो जाय कि उनके मन में उस कुटिलता का ध्यान कुछ भी नहीं है और उसकी ग्लानि दूर हो । वे बार बार उसके मन में यह बात जमाना चाहते हैं कि जो कुछ हुआ, उसमें उसका कुछ भी दोष नहीं है । अपने साथ बुराई करनेवाले के हृदय को शांत और शीतल करने की चिंता राम के सिवा और किसको हो सकती है ? दूसरी बात यह ध्यान देने की है कि राम का यह शील-प्रदर्शन उस समय हुआ, जिस समय कैकेयी का अंतःकरण अपनी कुटिलता का पूर्ण अनुभव करने के कारण इतना द्रवीभूत हो गया था कि शील का संस्कार उस पर सब दिन के लिये जम सकता था । गोस्वामी जी के अनुसार हुआ भी ऐसा ही—

कैकेयी जौ लौं जियति रही ।
तौलौं बात मातु सों मुँह भरि भरत न भूलि कही ।
मानी राम अधिक जननी तें, जननिहु गँस न गही ॥

इतने पर भी कहीं गाँस रह सकती है ?

गार्हस्थ्य जीवन के दाम्पत्य भाव के भीतर सब से मनोहर वस्तु है उनकी 'एक भार्या' की मर्यादा । इसके कारण यहाँ से वहाँ तक जिस गौरवपूर्ण माधुर्य का प्रसार दिखाई देता है, वह अनिर्वचनीय है । इसकी उपयोगिता का पक्ष दशरथ के चरित्र पर विचार करते समय दिखाया जायगा ।

भक्तों को सबसे अधिक वश में करनेवाला राम का गुण है शरणा-

गत की रक्षा। अत्यंत प्राचीन काल से ही शरण-प्राप्त की रक्षा करना भारतवर्ष में बड़ा भारी धर्म माना जाता है। इस विषय में भारत की प्रसिद्धि सारे सभ्य जगत् में थी। सिकंदर से हारकर पारस का सम्राट् दारा जब भाग रहा था, तब उसके तीन साथी सरदारों ने विश्वासघात करके उसे मार डाला। उनमें से एक शकस्थान (सीस्तान) का क्षत्रप बरजयंत था। जब सिकंदर ने दंड देने के लिये इन तीनों विश्वासघातियों का पीछा किया, तब बरजयंत ने भारतवासियों के यहाँ आकर शरण ली और बच गया। प्राचीन यहूदियों के एक जत्थे का गांधार और दक्षिण में शरण पाना प्रसिद्ध है। इस्लाम की तलवार के सामने कुछ प्राचीन पारसी जब अपने आर्य-धर्म की रक्षा के लिये भागे तब भारतवर्ष ही की ओर उनका ध्यान गया; क्योंकि शरणागत की रक्षा यहाँ प्राण देकर की जाती थी। अपनी हानि के भय से शरणागत का त्याग बड़ा भारी पाप माना जाता है—

सरनागत कहँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि।
ते नर पाँवर पाप-मय, तिनहिं बिलोकत हानि॥

शरणागत की रक्षा की चिन्ता रामचंद्र के हृदय से दारुण शोक के समय में भी दूर न हुई। सामने पड़े हुए लक्ष्मण को देखकर वे विलाप कर रहे हैं—

मेरो सब पुरुषारथ थाको।
बिपति-बँटावन बंधु-बाहु बिनु करौं भरोसो काको॥
सुनु सुग्रीव! साँचहू मो सन फेर्‌यो बदन बिधाता।
ऐसे समय समर-संकट हौं तज्यो लषन सो भ्राता॥
गिरि कानन जैहैं शाखामृग, हौं पुनि अनुज-सँघाती।
ह्वैहै कहा बिभीषन की गति, रही सोच भरि छाती॥

राम के चरित्र की इस उज्वलता के बीच एक धब्बा भी दिखाई देता है। वह है बालि को छिपकर मारना। वाल्मीकि और तुलसीदास जी दोनों ने इस धब्बे पर कुछ सफ़ेद रंग पोतने का प्रयत्न

किया है। पर हमारे देखने में तो यह धब्बा ही सम्पूर्ण रामचरित को उच्च आदर्श के अनुरूप एक कल्पना मात्र समझे जाने से बचाता है। यदि एक यह धब्बा न होता तो राम की कोई बात मनुष्य कीसी न लगती और वे मनुष्यों के बीच अवतार लेकर भी मनुष्यों के काम के न होते। उनका चरित भी उपदेशक महात्माओं की केवल महत्वसूचक फुटकर बातों का संग्रह होता, मानव जीवन की विशद अभिव्यक्ति सूचित करनेवाले संबद्ध काव्य का विषय न होता। यह धब्बा ही सूचित करता है कि ईश्वरावतार राम हमारे बीच हमारे भाई बन्धु बनकर आए थे और हमारे ही समान सुख दुःख भोग-कर चले गए। वे ईश्वरता दिखाने नहीं आए थे, मनुष्यता दिखाने आए थे। भूल चूक या त्रुटि से सर्वथा रहित मनुष्यता कहाँ होती है? इसी एक धब्बे के कारण हम उन्हें मानव जीवन से तटस्थ नहीं समझते—तटस्थ क्या कुछ भी हटे हुए नहीं समझते हैं।

अब थोड़ा भरत के लोकपावन निर्मल चरित्र की ओर ध्यान दीजिए। राम की वन-यात्रा के पहले भरत के चरित्र की शृंखला संघटित करनेवाली कोई बात हम नहीं पाते। उनकी अनुपस्थिति में ही राम के अभिषेक की तैयारी हुई, राम वन को गए। नानिहाल से लौटने पर ही उनके शील-स्वरूप का स्फुरण आरंभ होता है। नानिहाल में जब दुःस्वप्न और बुरे शकुन होते हैं, तब वे माता-पिता और भाइयों का मंगल मनाते हैं। कैकेयी के कुचक्र में अणु-मात्र योग के सन्देह की जड़ यहीं से कट जाती है। कैकेयी के मुख से पिता के मरण का संवाद सुन वे शोक कर ही रहे हैं कि राम के वन-गमन की बात सामने आती है जिसके साथ अपना संबंध—नाम मात्र का सही—समझकर वे एक दम ठक हो जाते हैं। ऐसी बुरी बात के साथ संबंध जोड़नेवाली माता के रूप में नहीं दिखाई देती। थोड़ी देर के लिये उसकी ओर से मातृ-भाव हट सा जाता है। ऐसा उज्वल अन्तःकरण ऐसी घोर कालिमा की छाया का स्पर्श

तक सहन नहीं कर सकता। यह छाया किस प्रकार हटे, इसी के यत्न में वे लग जाते हैं। हृदय का यह संताप विना शान्ति-शील-समुद्र राम के सम्मुख हुए दूर नहीं हो सकता। वे चट विरह-व्यथित पुरवासियों को लिए-दिए चित्रकूट में जा पहुँचते हैं और अपना अन्तःकरण भरी सभा में लोकादर्श राम के सम्मुख खोलकर रख देते हैं। उस आदर्श के भीतर उसकी निर्मलता देख वे शांत हो जाते हैं और जिस वात से धर्म की मर्यादा रक्षित रहे, उसे करने की दृढ़ता प्राप्त कर लेते हैं।

भरत ने इतना सब क्या लोक-लज्जावश किया? नहीं, उनके हृदय में सच्ची आत्मग्लानि थी, सच्चा सन्ताप था। यदि ऐसा न होता तो अपनी माता कैकेयी के सामने वे दुःख और क्षोभ न प्रकट करते। यह आत्मग्लानि ही उनकी सात्विक वृत्ति की गहनता का प्रमाण है। इस आत्मग्लानि के कारण का अनुसंधान करने पर हम उस तत्व तक पहुँचते हैं जिसकी प्रतिष्ठा रामायण का प्रधान लक्ष्य है। आत्मग्लानि अधिकतर अपने किसी बुरे कर्म को सोचकर होती है। भरत जी कोई बुरी बात अपने मन में लाए तक न थे। फिर यह आत्मग्लानि कैसी? यह ग्लानि अपने संबंध में लोक की बुरी धारणा के अनुमान मात्र से उन्हें हुई थी। लोग प्रायः कहा करते हैं कि अपना मन शुद्ध है, तो संसार के कहने से क्या होता है? यह बात केवल साधना की ऐकांतिक दृष्टि से ठीक है, लोक-संग्रह की दृष्टि से नहीं। आत्मपक्ष और लोक-पक्ष दोनों का समन्वय रामचरित का लक्ष्य है। हमें अपनी अंतर्वृत्ति भी शुद्ध और सात्विक रखनी चाहिए और अपने सम्बन्ध में लोक की धारणा भी अच्छी बनानी चाहिए। जिसका प्रभाव लोक पर न पड़े, उसे मनुष्यत्व का पूर्ण विकास नहीं कह सकते। यदि हम वस्तुतः सात्विकशील हैं, पर लोग भ्रमवश या और किसी कारण हमें बुरा समझ रहे हैं, तो हमारी सात्विक-शीलता समाज के किसी उपयोग की नहीं। हम अपनी

सात्विक-शीलता अपने साथ लिए चाहे स्वर्ग का सुख भोगने चले जायँ, पर अपने पीछे दस पाँच आदमियों के बीच दस पाँच दिन के लिये भी कोई शुभ प्रभाव न छोड़ जायँगे। ऐसे ऐकांतिक जीवन का चित्रण जिसमें प्रभविष्णुता न हो, रामायण का लक्ष्य नहीं है। रामायण भरत ऐसे पुण्यश्लोक को सामने करता है जिनके संबंध में राम कहते हैं:—

मिटिहहिं पाप-प्रपंच सब अखिल अमंगल भार।
लोक सुजस, परलोकसुख सुमिरत नाम तुम्हार॥

जिस भरत को अयश की इतनी ग्लानि हुई; जिसके हृदय से धर्म-भाव कभी न हटा, उनके नाम के स्मरण से लोक में यश और परलोक में सुख दोनों क्यों न प्राप्त हो?

भरत के हृदय का विश्लेषण करने पर हम उसमें लोकभीरुता, स्नेहार्द्रता, भक्ति और धर्मप्रवणता का मेल पाते हैं। राम के आश्रम पर जाकर उन्हें देखते ही भक्तिवश 'पाहि! पाहि!' कहते हुए वे पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं। सभा के बीच में जब वे अपने हृदय की बात निवेदन करने खड़े होते हैं, तब भ्रातृस्नेह उमड़ आता है, बाल्यवस्था की बातें आँखों के सामने आ जाती हैं। इतने में ग्लानि आ दबाती है और वे पूरी बात भी नहीं कह पाते हैं—

पुलकि सरीर सभा भए ठाढ़े। नीरज-नयन नेह जल बाढ़े॥
कहब मोर मुनिनाथ निबाहा। एहिं तें अधिक कहौं मैं काहा॥
मैं जानौं निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥
मो पर कृपा सनेह बिसेखी। खेलत खुनिस न कबहूँ देखी॥
सिसुपन तें परिहरेउ न संगू। कबहुँ न कीन्ह मोर मन-भंगू॥
मैं प्रभु कृपारीति जिय जोही। हारेहु खेल जितावहिं मोही॥

महूँ सनेह सकोच बस सनमुख कहेउ न बैन।
दरसन-तृपित न आजु लगि पेम-पियासे नैन॥

बिधि न सकेहु सहि मोर दुलारा। नीच बीच जननी मिस पारा॥

यहउ कहत मोहिं आजु न सोभा। अपनी समुझि साधु सुचि को भा॥
मातु मंद, मैं साधु सुचाली। उर अस आनत कोटि कुचाली॥
फरइ कि कोदव वालि सुसाली। मुकुता प्रसव कि संवुकताली॥
बिनु समुझे निज अघ-परिपाकू। जारेउँ जाय जननि कहि काकू॥
हृदय हेरि हारेउँ सब ओरा। एकहि भाँति भलेहि भल मोरा॥
गुरु गोसाइँ, साहिब सिय रामू। लागत मोहिं नीक परिनामू॥

भरत को इस बात पर ग्लानि होती है कि मैं आप अच्छा बनकर माता को भला-बुरा कहने गया। "अपनी समुझि साधु सुचि को भा?" जिसे दस भले आदमी—पवित्र और सज्जन लोग, जड़ और नीच नहीं—साधु और शुचि मानें, उसी की साधुता और शुचिता किसी काम की है। इस ग्लानि के दुःख से उद्धार पाने की आशा एक इसी बात से होती है कि गुरु और स्वामी वसिष्ठ और राम ऐसे ज्ञानी और सुशील हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह आशा ऐसे दृढ़ आधार पर थी कि पूर्ण रूप से फलवती हुई। भरत केवल लोक की दृष्टि में पवित्र ही न हुए, लोक को पवित्र करनेवाले भी हुए। राम ने उन्हें धर्म का साक्षात् स्वरूप स्थिर किया और स्पष्ट कह दिया कि—

भरत! भूमि रह राउरि राखी।

अब सत्य और प्रेम के विरोध में दोनों की एक साथ रक्षा करनेवाले परम यशस्वी महाराज दशरथ को लीजिए। वे राम को वनवास देने में सत्य की रक्षा और प्रतिज्ञा का पालन हृदय पर पत्थर रखकर—उमड़ते हुए स्नेह और वात्सल्य भाव को दबाकर-करते हुए पाए जाते हैं। इसके उपरान्त हम उन्हें स्नेह के निर्वाह में तत्पर और प्रेम की पराकाष्ठा को पहुँचते हुए पाते हैं। सत्य की रक्षा उन्होंने प्रिय पुत्र को बनवास देकर और स्नेह की रक्षा प्राण देकर की। यही उनके चरित्र की विशेषता है—यही उनके जीवन का महत्व है। नियम और शील धर्म के दो अंग हैं। नियम का संबंध विवेक

से है, और शील का हृदय से। सत्य बोलना, प्रतिज्ञा का पालन करना नियम के अन्तर्गत है। दया, क्षमा, वात्सल्य, कृतज्ञता आदि शील के अंतर्गत हैं। नियम के लिये आचरण ही देखा जाता है, हृदय का भाव नहीं देखा जाता। केवल नाम की इच्छा रखनेवाला पाषंडी भी नियम का पालन कर सकता है—और पूरी तरह कर सकता है। पर शील के लिये सात्त्विक हृदय चाहिए। कभी कभी ऐसी विकट स्थिति आ पड़ती है कि एक को राह देने से दूसरे का उल्लंघन अनिवार्य हो जाता है। किसी निरपराध को फाँसी हुआ चाहती है। हम देख रहे हैं कि थोड़ा सा झूठ बोल देने से उसकी रक्षा हो सकती है। अतः एक ओर तो दया हमें झूठ बोलने की प्रेरणा कर रही है; दूसरी ओर 'नियम' हमें ऐसा करने से रोक रहा है। इतने भारी शील-साधन के सामने तो हमें अवश्य नियम शिथिल कर देना पड़ता है। पर जहाँ शीलपक्ष इतना ऊँचा नहीं है, वहाँ उभयपक्ष की रक्षा का मार्ग ढूँढ़ना पड़ेगा।

दशरथ के सामने दोनों पक्ष प्रायः समान थे—बल्कि यों कहिए कि नियम की ओर का पलड़ा कुछ झुकता हुआ था। एक ओर तो सत्य की रक्षा थी, दूसरी ओर प्राण से भी अधिक प्रिय पुत्र का स्नेह। पर पुत्र-वियोग का दुःख दशरथ के ही ऊपर पड़नेवाला था (कौशल्या के दुःख को भी परिजन का दुःख समझकर दशरथ का ही दुःख समझिए)। इससे अपने ऊपर पड़नेवाले दुःख के डर से सत्य का त्याग उनसे न करते बिना। उन्होंने सत्य की रक्षा की, फिर अपने ऊपर पड़नेवाले दुःख की परमावस्था को पहुँचकर स्नेह की भी रक्षा की। इस प्रकार सत्य और स्नेह, नियम और शील दोनों की रक्षा हो गई। रामचंद्र जी भरत को समझाते हुए इस विषय को स्पष्ट करके कहते हैं—

राखेउ राउ सत्य मोंहि त्यागी। तनु परिहरेउ प्रेमपनु लागी॥

शील और नियम, आत्मपक्ष और लोकपक्ष के समन्वय

द्वारा धर्म की यही सर्वतोमुख रक्षा रामायण का गूढ़ रहस्य है। वह धर्म के किसी अंग को नोचकर दिखानेवाला ग्रंथ नहीं है। यह देखकर बारबार प्रसन्नता होती है कि आर्य्य-धर्म का यह सार-संपुट हिन्दी कवियों में से एक ऐसे महात्मा के हाथ में पड़ा जिसमें उसके उद्घाटन की सामर्थ्य थी। देखिए, किस प्रकार उन्होंने राम के मुख से उपर्युक्त विवेचन का सार चौपाई के दो चरणों में ही कहला दिया।

रामायण की घटना के भीतर तो दशरथ का यह महत्व ही सामने आता है। पर कथोपकथन रूप में जो कवि-कल्पित चित्रण है, उसमें वाल्मीकि और तुलसीदास दोनों ने दशरथ की अंतर्वृत्ति का कुछ और भी आभास दिया है। विश्वामित्र जब बालक राम-लक्ष्मण को माँगने लगे, तब दशरथ ने देने में बहुत आगापीछा किया। वे सब कुछ देने को तैयार थे, पर पुत्रों को देना नहीं चाहते थे। वृद्धावस्था में पाए हुए पुत्रों पर इतना स्नेह स्वाभाविक ही था। वे मुनि से कहते हैं—

चौथे पन पाएउँ सुत चारी। विप्र वचन नहिं कहेहु विचारी।
माँगहु भूमि धेनु धन कोसा। सरबस देउँ आजु सहरोसा॥
देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं॥
सब सुत प्रीय प्रान की नाईं। राम देत नहिं बनइ गोसाईं॥

इससे प्रकट होता है कि उनका वात्सल्य स्नेह ऐसा न था कि वे साधारण कारणवश उसकी प्रेरणा के विरुद्ध कुछ करने जाते। मुनि के साथ जो उन्होंने बालकों को कर दिया, वह एक तो शाप के भय से, दूसरे उनकी अस्त्रशिक्षा की आशा से।

उस वृद्धावस्था में वे अपनी छोटी रानी के वश में थे, यह उस घबराहट से प्रकट होता है जो उसका कोप सुनकर उन्हें हुई। वे उसके पास जाकर कहते हैं—

अनहित तोर प्रिया केइ कीन्हा। केहि दुइ सिर, केहि जम चह लीन्हा॥

कहु कहि रंकहि करहुँ नरेसू । कहु केहि नृपहिं निकासउँ देसू ॥
जानसि मोर सुभाउ बरोरू । मन तव आनन-चंद-चकोरू ॥
प्रिया ! प्रान, सुत, सरबस मोरे । परिजन प्रजा सकल वस तोरे ॥

प्राण, पुत्र, परिजन, प्रजा सब को कैकेयी के वश में कहना स्वयं राजा का कैकेयी के वश में होना अभिव्यंजित करता है। एक स्त्री के कहने से किसी मनुष्य को यमराज के यहाँ भेजने के लिये, किसी दरिद्र को राजा बनाने के लिये, किसी राजा को देश से निकालने के लिये तैयार होना स्त्रैण होने का ही परिचय देना है। कैकेयी के सामने जाने पर न्याय और विवेक थोड़ी देर के लिये विश्राम ले लेते थे। वाल्मीकि जी ने भी इसी प्रकार की बातें उस अवसर पर दशरथ से कहलाई हैं।

दशरथ के हृदय की इस दुर्बलता के चित्र के भीतर प्रचलित दाम्पत्य विधान का वह दोष भी झलकता है जिसके पूर्ण परिहार का पथ आगे चलकर मर्य्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचंद्र ने अपने आचरण द्वारा प्रदर्शित किया। आधी उम्र तक विवाह पर विवाह करते जाने का परिणाम अंत में एक ऐसा बे-मोल जोड़ा होता है जो सब मामलों का मेल बिगाड़ देता है और जीवन किरकिरा हो जाता है। एक में तो प्रेम रहता है, दूसरे में स्वार्थ। अतः एक तो दूसरे के वश में हो जाता है और दूसरा उसके वश के बाहर रहता है। एक तो प्रेमवश दूसरे के सुख संतोष के प्रयत्न में रहा करता है, दूसरा उसके सुख सन्तोष की वहीं तक परवा रखता है जहाँ तक उससे स्वार्थ-साधन होता है। राम ने 'एक भार्य्या' की मर्य्यादा द्वारा जिस प्रकार प्रेम के अपूर्व माधुर्य्य और सौंदर्य्य का विकास दिखाया, उसी प्रकार अपने पिता की परिस्थिति से भिन्न अपनी परिस्थिति भी लोक को दिखाई। कैकेयी ने एक बार दशरथ के साथ युद्ध-स्थल में जाकर पहिए में उँगली लगाई थी और उसके बदले में दो वरदान लिए थे, तो सीता चौदह वर्ष राम के साथ जंगलों-पहाड़ों में मारी

मारी फिरी, और उस मारे मारे फिरने को ही उन्होंने अपने लिये बड़ा भारी वरदान समझा। अन्त में जब राजधर्म की विकट समस्या सामने आती है, तब हम राम को ठीक उसका उलटा करने में समर्थ पाते हैं जो दशरथ ने कैकेयी को प्रसन्न करने के लिये कहा था। दशरथ एक मात्र कैकेयी को प्रसन्न करने के लिये किसी राजा को बिना अपराध देश से निकालने के लिये तैयार हुए थे। पर राम प्रजा को प्रसन्न करने के लिये बिना किसी अपराध के प्राणों से भी प्रिय सीता को निकालने को तैयार हुए। दशरथ अपनी स्त्री के कहने से किसी राजा तक को देश से निकालते, पर राम ने एक धोबी तक के कहने से अपनी स्त्री को निकाल दिया। इतने पर भी सीता और राम में जो परस्पर गूढ़ प्रेम था, उसमें कुछ भी अंतर न पड़ा। सीता ने स्वामी के इस व्यवहार का कारण राज-धर्म की कठोरता ही समझा। यह नहीं समझा कि राम का प्रेम मेरे ऊपर कम हो गया।

सात्विक, राजस् और तामस् इन तीन प्रकृतियों के अनुसार चरित्र-विभाग करने से दो प्रकार के चित्रण हम गोस्वामीजी में पाते हैं—आदर्श और सामान्य। आदर्श चित्रण के भीतर सात्विक और तामस् दोनों आते हैं। राजस् को हम सामान्य चित्रण के भीतर ले सकते हैं। इस दृष्टि से सीता, राम, भरत, हनुमान और रावण आदर्श-चित्रण के भीतर आवेंगे तथा दशरथ, लक्ष्मण, विभीषण, सुग्रीव, कैकेयी सामान्य चित्रण के भीतर। आदर्श चित्रण में हम या तो यहाँ से वहाँ तक सात्विक वृत्ति का निर्वाह पावेंगे या तामस का। प्रकृति-भेद-सूचक अनेकरूपता उसमें न मिलेगी। सीता, राम, भरत, हनुमान ये सात्विक आदर्श हैं, रावण तामस आदर्श है।

सात्विक आदर्शों का वर्णन हो चुका। हनुमान के संबंध में इतना समझ रखना आवश्यक है कि वे सेवक के आदर्श हैं। सेव्य-सेवक भाव का पूर्ण स्फुरण उनमें दिखाई पड़ता है। बिना किसी प्रकार के पूर्व परिचय के राम को देखते ही उनके शील, सौन्दर्य्य और शक्ति

के साक्षात्कार मात्र पर मुग्ध होकर पहले पहल आत्म-समर्पण करनेवाले भक्तिराशि हनुमान ही हैं। उनके मिलते ही मानों भक्ति के आश्रय और आलंबन दोनों पक्ष पूरे हो गए और भक्ति की पूर्ण स्थापना लोक में हो गई। इसी रामभक्ति के प्रभाव से हनुमान सब राम-भक्तों की भक्ति के अधिकारी हुए।

सेवक में जो जो गुण चाहिएँ, सब हनुमान में लाकर इकट्ठे कर दिए गए हैं। सबसे आवश्यक बात तो यह है निरलसता और तत्परता स्वामी के कार्य्यों के लिये, सब कुछ करने के लिये, उनमें हम हर समय पाते हैं। समुद्र के किनारे सब बंदर बैठे समुद्र पार करने की चिंता कर ही रहे थे, अंगद फिरने का संशय करके आगा पीछा कर ही रहे थे कि वे चट समुद्र लाँघ गए। लक्ष्मण को जब शक्ति लगी तब वैद्य को भी चट हनुमान ही लाए और ओषधि के लिए भी पवन-वेग से वे ही दौड़े। सेवक को अमानी होना चाहिए। प्रभु के कार्य्य-साधन में उसे अपने मान अपमान का ध्यान न रखना चाहिए। अशोक-वाटिका में से पकड़कर राक्षस उन्हें रावण के सामने ले जाते हैं। रावण उन्हें अनेक दुर्वाद कहकर हँसता है। इस पर उन्हें कुछ भी क्रोध नहीं आता। अंगद की तरह "हैं तव दसन तोरिबे लायक" वे नहीं कहते हैं। ऐसा करने से प्रभु के कार्य्य में हानि हो सकती थी। अपने मान का ध्यान करके स्वामी का कार्य्य बिगाड़ना सेवक का कर्त्तव्य नहीं। वे रावण से साफ़ कहते हैं—

मोहिं न कछु बाँधे कर लाजा। कीन्ह चहौं निज प्रभु कर काजा॥

जिस प्रकार राम राम थे, उसी प्रकार रावण रावण था। वह भगवान् को उन ललकारनेवालों में से था जिसकी ललकार पर उन्हें आना पड़ा था। बालकांड में गोस्वामी जी ने पहले उसके उन अत्याचारों का वर्णन करके जिनसे पीड़ित होकर दुनियाँ पनाह माँगती थी, तब राम का अवतार होना कहा है। वह उन राक्षसों का सरदार था जो गाँव जलाते थे, खेती उजाड़ते थे, चौपाए नष्ट

करते थे, ऋषियों को यज्ञ आदि नहीं करने देते थे, किसी की कोई अच्छी चीज़ देखते थे तो छीन ले जाते थे और जिनके खाए हुए लोगों की हड्डियों से दक्खिन का जंगल भरा पड़ा था। चंगेज़खाँ और नादिरशाह तो मानों लोगों को उसका कुछ अनुमान कराने के लिये आए थे। राम और रावण को चाहे अहुरमज़्द और अह्रमान समझिए, चाहे खुदा और शैतान। फ़र्क इतना ही समझिए कि शैतान और खुदा की लड़ाई का मैदान इस दुनियाँ से ज़रा दूर पड़ता था और राम-रावण की लड़ाई का मैदान यह दुनिया ही थी।

ऐसे तामस आदर्श में धर्म के लेश का अनुसंधान निष्फल ही समझ पड़ेगा। पर हमारे यहाँ की पुरानी अक्ल के अनुसार धर्म के कुछ आधार बिना कोई प्रताप और ऐश्वर्य्य के साथ एक क्षण नहीं टिक सकता, रावण तो इतने दिनों तक पृथ्वी पर रहा। अतः उसमें धर्म का कोई न कोई अंग अवश्य था। वह अंग अवश्य था जिससे शक्ति और ऐश्वर्य्य की प्राप्ति होती है। उसमें कष्ट-सहिष्णुता थी। वह बड़ा भारी तपस्वी था। उसकी धीरता में भी कोई संदेह नहीं है। भाई, पुत्र जितने कुटुँबी थे, सब के मारे जाने पर भी वह उसी उत्साह के साथ लड़ता रहा। अब रहे धर्म के सत्य आदि और अंग जो किसी वर्ग की रक्षा के लिये आवश्यक होते हैं। उनका पालन राक्षसों के बीच वह अवश्य करता रहा होगा। उसके बिना राक्षस-कुल रह कैसे सकता था? पर धर्म का पूर्ण भाव लोक-व्यापकत्व में है। यों तो चोर और डाकू भी अपने दल के भीतर परस्पर के व्यवहार में धर्म बनाए रखते हैं। लोक-धर्म वह है जिसके आचरण से पहले तो किसी को दुःख न पहुँचे; यदि पहुँचे भी तो विरुद्ध आचरण करने से जितने लोगों को पहुँचता है, उससे क़म लोगों को। सारांश यह कि रावण में केवल अपने लिये और अपने दल के लिये शक्ति अर्जित करने भर को धर्म था, *समाज में उस शक्ति का सदुपयोग करनेवाला धर्म नहीं था।* रावण पंडित था, तपस्वी था, राज-

नीति-कुशल था, धीर था, वीर था, पर सब गुणों का उसने दुरुपयोग किया। उसके मरने पर उसका तेज राम के मुख में समा गया। सत् से निकलकर जो शक्ति असत् रूप हो गई थी, वह फिर सत् में विलीन हो गई।

अब सामान्य चित्रण लीजिए। राम के साथ लक्ष्मण का शील-निरूपण कुछ हो चुका है। यहाँ केवल यही कहना है कि उनकी उग्रता ऐसी न थी जो करुणा या दया के गहरे अवसरों पर भी कोमलता या आर्द्रता न आने दे। सीता को जब वे वाल्मीकि के आश्रम पर छोड़ने गए थे, तब वे करुणभाव में मग्न थे। उनके मुँह से कोई बात न निकलती थी। वे राम के बड़े भारी आज्ञाकारी थे। वे अपने हृदय के वेग को सहकर भी उनकी आज्ञा का पालन करते थे। क्रोध उन्हें कटुवचन के लिये उभारता था, पर राम का रुख़ देखते ही वे चुप हो जाते थे। सीता के वनवास की कठोर आज्ञा राम के मुख से सुनते ही वे सूख गए, करुणा से विह्वल हो गए। पर जी कड़ा करके वे सीता को पहुँचा आए। आज्ञाकारिता के लिये वे आदर्श हुए। पर यह नियम भी ऐसे अवसरों पर उन्होंने शिथिल कर दिया जब आज्ञा के पालन में उन्होंने अधिक हानि देखी और उल्लंघन का परिणाम केवल अपने ही ऊपर देखा। इन सब बातों के विचार से उनका चरित्र सामान्य के भीतर ही रखा है।

गृहनीति की दृष्टि से विभीषण शत्रु से मिलकर अपने भाई और कुल का नाश करानेवाले दिखाई पड़ते हैं; पर और विस्तीर्ण क्षेत्र के भीतर लेकर देखने से उनके इस स्वरूप की कलुषता प्रायः नहीं के बराबर हो जाती है। गोस्वामी जी ने इसी विस्तृत दृष्टि से उनके चरित्र का चित्रण किया है। विभीषण रामभक्त थे, अर्थात् सात्विक गुणों पर श्रद्धा रखनेवाले थे। वे राम के लोक-विश्रुत शील, शक्ति और सौंदर्य्य पर मुग्ध थे। भाई के राज्य के लोभ के कारण वे राम से नहीं मिले थे। इस बात का निश्चय उनके बार

बार तिरस्कृत होने पर भी रावण को समझाते जाने से हो जाता है। यदि उन्हें राज्य का लोभ होता तो वे एक ओर तो रावण को युद्ध के लिये उत्तेजित करते, दूसरी ओर भीतर से शत्रु की सहायता करते। पर वे रावण की लात खाकर खुल्लमखुल्ला राम की शरण में यह कहते हुए गए—

राम सत्य-संकल्प प्रभु सभा कालबस तोरि।
मैं रघुबीर सरन अब, जाउँ, देहु जनि खोरि॥

लोभवश न सही, शायद विभीषण भाई के व्यवहार से रूठ कर क्रोधवश राम से जा मिले हों। इस संदेह का निवारण रावण के लात मारने पर विभीषण का कुछ भी क्रोध न करना दिखाकर गोस्वामी जी ने किया है। लात मारने पर विभीषण इतना ही कहते हैं—

तुम पितु सरिस भलेहि मोहि मारा।
राम भजे हित, नाथ, तुम्हारा॥ *

इस स्थल पर गोस्वामी जी का चरित्र-निर्वाह-कौशल झलकता है। यदि यहाँ थोड़ी सी भी असावधानी हो जाती, विभीषण क्रोध करते हुए दिखा दिए जाते, तो जिस रूप में विभीषण का चरित्र वे दिखलाया चाहते थे, वह बाधित हो जाता। अधिकतर यही समझा जाता कि क्रोध के आवेश में विभीषण ने रावण का साथ छोड़ा। कवि ने विभीषण को साधु प्रकृति का बनाया है। हरी हुई सीता को लौटाने के बदले रावण का राम से लड़ने के लिये तैयार होना असाधुता की चरम सीमा थी, जिसे विभीषण की साधुता न सह सकी, गोस्वामी जी का पक्ष यह है। विभीषण की साधुता औसत दरजे की थी। वह इतनी बड़ी नहीं थी कि राम द्वारा दिए हुए भाई के राज्य की ओर से वे उदासीनता प्रकट करते।

---

* वाल्मीकि का वर्णन भी इसी प्रकार है।

सुग्रीव का चरित्र तो और भी औसत दरजे का है। न उसकी भलाई ही किसी भारी हद तक पहुँची हुई दिखाई देती है, न बुराई ही। राम के साथ उन्होंने मैत्री की और राम का कुछ कार्य्य-साधन करने के पहले ही बड़े भाई का राज्य पाया। पर जैसा कि साधारणतः मनुष्य का स्वभाव (बंदर का स्वभाव कहने से और कुछ कहते ही नहीं बनेगा) होता है, वे सुखविलास में फँसकर राम का कार्य्य भूल गए। जब हनुमान ने चेताया, तब वे घबराए और अपने कर्त्तव्य में दत्तचित्त हुए।

अब तक जिस चित्रण का वर्णन हुआ है, वह एक व्यक्ति का चित्रण है। इसी प्रकार किसी समुदाय-विशेष की प्रकृति का भी चित्रण होता है; जैसे स्त्रियों की प्रकृति का, बालकों की प्रकृति का। स्त्रियों की प्रकृति की जैसी तद्रूप छाया हम 'मानस' के अयोध्या कांड में देखते हैं, वैसी छाया के प्रदर्शन का प्रयत्न तक हम और किसी हिन्दी कवि में नहीं पाते। नीची श्रेणी की स्त्रियों के सामने बहुत कम प्रकार के विषय आते हैं। पर मनुष्य का मन ऐसी वस्तु है कि अपनी प्रवृत्ति के अनुसार लगे रहने के लिये उसे कुछ न कुछ चाहिए। वह ख़ाली नहीं रह सकता। इससे वे अपने राग-द्वेष के अनेक आधार यों ही बिना कारण ढूँढ़कर खड़ा करती रहती हैं। यदि वे चार आदमियों के बीच रख दी जायँ, तो हम बहुत थोड़े दिनों में देखेंगे कि कुछ तो उनके अनुराग के पात्र हो गए हैं और कुछ द्वेष के। मूर्ख स्त्रियों की यह विशेषता ध्यान देने योग्य है। अपने लिये राग और द्वेष का पात्र चुन लेने पर वे अपने वाग्विलास और भाव-परिपाक के लिये सहयोगी ढूँढ़ती हैं। मंथरा का इसी अवस्था में हम पहले पहल दर्शन पाते हैं। न जाने उसे क्यों कौशल्या अच्छी नहीं लगतीं, कैकेयी लगती हैं *। राम के अभि-

* वाल्मीकि जी ने उसे "कैकेयी के मातृकुल की दासी" कहकर कारण

षेक की तैयारी देखकर वह कुढ़ जाती है और मुँह लटकाए कैकेयी के पास आ खड़ी होती है। कैकेयी को उसके अनुराग का पता चाहे रहा हो, पर अभी तक द्वेष का पता बिलकुल नहीं है। वह मुँह लटकाने का कारण पूछती है। तब—

उतरु देइ नहिं, लेइ उसासू। नारिचरित करि ढारइ आँसू॥
हँसि कह रानि गाल बड़ तोरे। दीन्ह लखन सिख अस मन मोरे॥
तबहुँ न बोल चेरि बड़ि पापिनि। छाँड़इ स्वास कारि जनु साँपिनि॥

उसकी इस मुद्रा से प्रकट होता है कि उसने अपने द्वेष का आभास इसके पहले कैकेयी को नहीं दिया था; यदि दिया भी रहा होगा, तो बहुत कम। जल्दी उत्तर न देने से यह सूचित होता है कि जो बात वह कहना चाहती है, वह कैकेयी के लिये बिलकुल नई है. अतः उसे सहसा नहीं कह सकती। किस ढंग से कहे, यह सोचने में उसे कुछ काल लग जाता है। इसके अतिरिक्त किसी के सामने अब तक न प्रकट किए गए दुःख के वेग का भार भी दबाए हुए है। इतने में "गाल बड़ तोरे" इस वाक्य से जी की बात धीरे धीरे बाहर करने का एक रास्ता निकलता है। वह अपनी वही मुद्रा क़ायम रखती हुई कहती है—

कत सिख देइ हमहिं कोउ माई। गाल करब केहि कर बलु पाई?

"किसका बल पाकर गाल करूँगी?" इसका मतलब यही है कि मुझे एक तुम्हारा ही बल ठहरा—मैं तुम्हें चाहती हूँ और तुम मुझे चाहती हो—सो मैं देखती हूँ कि तुम्हारी यहाँ कोई गिनती ही नहीं है। क्रोध, द्वेष आदि के उद्गार के इस प्रकार क्रम क्रम से निकालने की पटुता स्त्रियों में स्वाभाविक होती है, क्योंकि पुरुषों के दबाव

का पूरा संकेत कर दिया है। इस प्रकार की दासी का व्यवहार घर के और लोगों के साथ कैसा रहता है, यह हिन्दू गृहस्थ मात्र जानते हैं। पर गोस्वामी जी ने कारण का संकेत न देकर उसकी प्रवृत्ति को मूर्ख स्त्रियों की सामान्य प्रवृत्ति—नारिचरित—के अंतर्गत रखा है।

में रहने के कारण तथा अधिक लज्जा, संकोच के कारण ऐसे भावों के वेग को एक-बारगी निकालने का अवसर उन्हें कम मिलता है ।

रानी पूछती है कि "सब लोग कुशल से तो हैं ?" इसका उत्तर फिर उसी प्रणाली का अनुसरण करती हुई वह देती है—

रामहिं छाँड़ि कुसल केहि आजू । जिनहिं जनेसु देइ जुवराजू ॥
भयेउ कौसिलहि बिधि अति दाहिन । देखत गरब रहत उर नाहिं न ॥

किसी को क्रमशः अपनी भाव-पद्धति पर लाना, थोड़ा बहुत जिसे कुछ भी बात करना आता है, उसे भी आता है । जिस प्रकार अपनी विचार–पद्धति पर लाने के लिये क्रमशः प्रमाण पर प्रमाण देते जाने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार क्रमशः किसी के हृदय को किसी भाव-पद्धति पर लाने के लिये उसके अनुकूल मनोविकार उत्पन्न करते चलने की आवश्यकता होती है । राम के प्रति द्वेष-भाव उत्पन्न करने के लिये मंथरा सपत्नी को सामने रखती है जिसके गर्व और अभिमान को न सह सकना स्त्रियों में स्वाभाविक होता है । सपत्नी के घमंड की बात जी में आने पर कहाँ तक ईर्ष्या न उत्पन्न होगी ? इस ईर्ष्या के साथ भरत के प्रति वात्सल्य–भाव भी तो कुछ जगाना चाहिए । इस विचार से फिर मंथरा कहती है–

पूत बिदेसु न सोच तुम्हारे । जानति हहु बस नाहु हमारे ॥

इतना होने पर भी राजा की कुटिलता के निश्चय द्वारा जब तक राजा के प्रति कुछ क्रोध उत्पन्न न होगा, तब तक कैकेयी में आवश्यक कठोरता और दृढ़ता कहाँ से आवेगी ? कैकेयी के मन में यह बात जम जानी चाहिए कि भरत जान बूझकर हटा दिए गए हैं । इसके लिये ये वचन हैं—

नींद बहुत प्रिय सेज तुराई । लखहु न भूप कपट चतुराई ॥

इस पर कैकेयी जब कुछ फटकारती है और बार बार उसके खेद का कारण पूछती है, तब वह ऐसा खेद प्रकट करती है जैसा उसको होता है जो किसी से उसके परम हित की बात कहना चाहता

है, पर वह उसे केवल तुच्छ या छोटा समझकर ध्यान ही नहीं देता। उसके वचन ठीक वे ही हैं जो ऐसे अवसर पर स्त्रियों के मुख से निकलते हैं—

एकहिं बार आस सब पूजी। अब कछु कहब जीभ कर दूजी ॥
फोरइ जोगु कपार अभागा। भलेउ कहत दुख रउरेहिं लागा ॥
कहहिं झूँठ फुरि बात बनाई। ते प्रिय तुम्हहिं, करुइ मैं माई ॥
हमहुँ कहब अब ठकुरसोहाती। नाहिं त मौन रहब दिनराती ॥
करि कुरूप बिधि परबस कीन्हा। बवा सो लुनिय, लहिय जो दीन्हा।

मंथरा अब अपने उस भाग्य को दोष दे रही है जिसके कारण वह ऐसी कुरूप हुई, दासी के घर उसका जन्म हुआ, उसकी बात की कोई कुछ कद्र ही नहीं करता, वह अच्छा भी कहती है तो लोगों को बुरा लगता है। विश्वास न करनेवाले के सामने कुछ तटस्थ होकर अपने भाग्य को दोष देने लगना विश्वास उत्पन्न करने का एक ऐसा ढंग है जिसे कुछ लोग, विशेषतः स्त्रियाँ, स्वभावतः काम में लाती हैं। इससे श्रोता का ध्यान उसके खेद की सचाई पर चला जाता है और फिर क्रमशः उसकी बातों की ओर आकर्षित होने लगता है। इस खेद की व्यंजना प्रायः 'उदासीनता' के द्वारा की जाती है; जैसे "हमें क्या करना है? हमने आप के भले के लिये कहा था। कुछ स्वभाव ही ऐसा पड़ गया है कि किसी का अहित देखा नहीं जाता।" मंथरा के कहे हुए खेद-व्यंजक उदासीनता के ये शब्द सुनते ही झगड़ा लगानेवाली स्त्री का रूप सामने खड़ा हो जाता है—

कोउ नृप होइ हमहिं का हानी। चेरि छाड़ि अब होब कि रानी?
जारइ जोग सुभाउ हमारा। अनभल देखि न जाइ तुम्हारा ॥

अब तो कैकेयी को विश्वास हो रहा है, यह देखते ही वह राम के अभिषेक से होनेवाली कैकेयी की दुर्दशा का चित्र खींचती है और यह भी कहती जाती है कि राम का तिलक होना मुझे अच्छा

लगता है, राम से मुझे कोई द्वेष नहीं है; पर आगे तुम्हारी क्या दशा होगी, यही सोचकर मुझे व्याकुलता होती है—

रामहि तिलक कालि जो भयऊ। तुम्ह कहँ बिपति-बीज बिधि बयऊ॥
रेख खँचाइ कहहुँ बल भाखी। भामिनि भइहु दूध कै माखी॥
जौं सुतसहित करहु सेवकाई। तौ घर रहहु न आन उपाई॥

इस भावी दृश्य की कल्पना से भला कौन स्त्री क्षुब्ध न होगी? किसी बात पर विश्वास करने या न करने की भी मनुष्य की रुचि नहीं होती है। जिस बात पर विश्वास करने की मनुष्य की रुचि नहीं होती, उसके प्रमाण आदि वह सुनता ही नहीं; सुनता भी है तो ग्रहण नहीं करता। मंथरा ने पहले अपनी बात पर विश्वास करने की रुचि भिन्न भिन्न मनोविकारों के उद्दीपन द्वारा कैकेयी में उत्पन्न की। जब यह रुचि उत्पन्न हो गई, तब स्वभावतः कैकेयी का अंतःकरण भी उसके समर्थन में तत्पर हुआ—

सुनु मंथरा बात फुर तोरी। दहिनि आँख नित फरकइ मोरी॥
दिन प्रति देखेउँ राति कुसपने। कहौं न तोहिं मोहबस अपने॥
काह करौं सखि, सूध सुभाऊ। दाहिन बाम न जानौं काऊ॥

इस प्रकार जो भावी दृश्य मन में जम जाता है, उससे कैकेयी के हृदय में घोर नैराश्य उत्पन्न होता है। वह कहती है—

नैहर जनमु भरब बरु जाई। जियत न करब सवति सेवकाई॥
अरि बस दैव जिआवत जाही। मरनु नीक तेहि जीव न चाही॥

इस दशा में मंथरा उसे सँभालती है और कार्य में तत्पर करने के लिये आशा बँधाती हुई उत्साह उत्पन्न करती है—

जेइ राउर अति अनभल ताका। सोइ पाइहि यह फलु परिपाका॥
पूछेउँ गुनिन्ह, रेख तिन्ह खाँची। भरत भुआल होहिं यह साँची॥

इस प्रसंग के चित्रण को देख यह समझा जा सकता है कि गोस्वामी जी ने मानव अंतःकरण के कैसे कैसे रहस्यों का उद्घाटन

किया है। ऐसी गूढ़ उद्भावना बिना सूक्ष्म अंतर्दृष्टि के नहीं हो सकती।

बालकों की प्रवृत्ति का चित्रण हम परशुराम और लक्ष्मण के संवाद में पाते हैं। अकारण चिढ़नेवालों को चिढ़ाना बालकों के स्वभाव के अंतर्गत होता है। चिड़चिड़े लोगों की दवा करने का भार मानों समाज ने बालकों ही को दे रखा है। राम के विनय करने पर भी परशुराम को ज्यों ही लक्ष्मण चिढ़ते देखते हैं, त्यों ही उनकी बाल-प्रवृत्ति जाग्रत हो जाती है। लक्ष्मण का स्वभाव उग्र था, इससे इस कौतुक के बीच बीच में क्रोध का भी आभास हमें मिलता है। परशुराम की आकृति जब अत्यंत भीषण और वचन अत्यंत कटु हो जाते हैं, तब लक्ष्मण के मुँह से व्यंग्य वचन न निकलकर अमर्ष के उग्र शब्द निकलने लगते हैं। परशुराम जब कुठार दिखाने लगे; तब लक्ष्मण को भी क्रोध आ गया और वे बोले—

भृगुवर, परसु देखावहु मोही। विप्र विचारि बचेउ नृप-द्रोही॥
मिले न कबहुँ सुभट रन गाढ़े। द्विज देवता घरहिं के बाढ़े॥

गोस्वामी जी ने लक्ष्मण की इस बाल-वृत्ति को लोक-व्यवहार से बिल्कुल अलग नहीं रखा है, इसे परशुराम की क्रोधशीलता की प्रतियोगिता में रखा है। यह भी अपना लोकोपयोगी स्वरूप दिखा रही है। यदि परशुराम मुनियों की तरह आते, जो शांत और क्षमाशील होते हैं, तो लक्ष्मण को अवसर न मिलता। रामचंद्र जी कहते हैं—

जौ तुम अवतेहु मुनि की नाईं। पदरज सिर सिसु धरत गोसाईं॥
छमहु चूक अनजानत केरी। चहिय विप्र उर कृपा घनेरी॥

बाह्य-दृश्य-चित्रण

यहाँ तक तो गोस्वामी जी की अंतर्दृष्टि की सूक्ष्मता का कुछ वर्णन हुआ। अब पदार्थों के बाह्य स्वरूप के निरीक्षण और प्रत्यक्षीकरण पर भी थोड़ा विचार कर लेना चाहिए; क्योंकि ये दोनों बातें

भी कवि के लिये बहुत ही आवश्यक हैं। प्रबंधगत पात्र के चित्रण में जिस प्रकार उसके शील-स्वरूप को, उसके अंतस् की प्रवृत्तियों को, प्रत्यक्ष करना पड़ता है, उसी प्रकार उसके अंग-सौष्ठव आदि को भी प्रत्यक्ष करना पड़ता है। यहीं तक नहीं, प्रकृति के नाना रूपों के साथ मनुष्य के हृदय का सामंजस्य दिखाने और प्रतिष्ठित करने के लिये उसे वन, पर्वत, नदी, निर्झर आदि अनेक पदार्थों को ऐसी स्पष्टता के साथ अंकित करना पड़ता है कि श्रोता या पाठक का अंतःकरण उनका पूरा बिंब ग्रहण कर सके। इस संबंध में पहले ही यह कह देना आवश्यक है कि हिंदी कवियों में प्राचीन संस्कृत कवियों का सा वह सूक्ष्म निरीक्षण नहीं है जिससे प्राकृतिक दृश्यों का पूरा चित्र सामने खड़ा होता है। यदि किसी में यह बात थोड़ी बहुत है, तो गोस्वामी तुलसीदास जी में ही।

दृश्य-चित्रण में केवल अर्थ-ग्रहण कराना नहीं होता, बिंब-ग्रहण कराना भी होता है। यह बिंब-ग्रहण किसी वस्तु का नाम ले लेने मात्र से नहीं हो सकता। आसपास की और वस्तुओं के बीच उसकी परिस्थिति तथा नाना अंगों की संश्लिष्ट योजना के साथ किसी वस्तु का जो वर्णन होगा, वही चित्रण कहा जायगा। "कमल फूले हैं" "भौंरे गूँज रहे हैं" "कोयल बोल रही है" यदि कोई इतना ही कह दे तो यह चित्रण नहीं कहा जायगा। 'लहराते हुए नीले जल के ऊपर कहीं गोल हरे पत्तों के समूह के बीच कमलनाल निकले हैं जिनके झुके हुए छोरों पर रक्ताभ कमल दल छितराकर फैले हुए हैं' इस प्रकार का कथन चित्रण का प्रयत्न कहा जायगा। यह चित्रण वस्तु और व्यापार के सूक्ष्म निरीक्षण पर अवलंबित होता है। आदि कवि वाल्मीकि तथा कालिदास आदि प्राचीन कवियों में ऐसा निरीक्षण करानेवाली समग्र बाह्य सृष्टि से संयुक्त सहृदयता थी जो पिछले कवियों में बराबर कम होती गई और हिंदी के कवियों के तो हिस्से ही में न आई। उन्होंने तो कुछ इनी-

गिनी वस्तुओं का नाम ले लिया, बस पुरानी रस्म अदा हो गई। फिर भी कहना पड़ता है कि यदि प्राचीन कवियों की थोड़ी बहुत छाया कहीं दिखाई पड़ती है, तो तुलसीदास जी में।

चित्रकूट, पंचवटी आदि स्थानों में गोस्वामी जी राम-लक्ष्मण को ले गए हैं; पर उनके राम-लक्ष्मण में प्रकृति के नाना रूपों और व्यापारों के प्रति वह हर्षोल्लास नहीं है जो वाल्मीकि के राम-लक्ष्मण में है। वाल्मीकि के लक्ष्मण पंचवटी पर जाकर हेमन्त ऋतु की शोभा का अत्यंत विस्तीर्ण और सूक्ष्म वर्णन करते हैं, उसके एक एक ब्योरे पर ध्यान ले जाते हुए अपनी रागात्मिका वृत्ति को लीन करते हैं; पर गोस्वामी जी के लक्ष्मण बैठकर राम से 'ज्ञान, विराग, माया और भक्ति' की बात पूछते हैं। वाल्मीकि के लक्ष्मण तो जहाँ तक दृष्टि जाती है, वहाँ तक का एक एक ब्योरा इस प्रकार आनन्द से सामने ला रहे हैं—

अवश्याय निपातेन किंचित्प्रक्लिन्नशाद्वला।
वनानां शोभते भूमिर्निविष्ट तरुणातपा।
स्पृशंस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम्।
अत्यंत तृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम्।
बाष्पसंछन्नसलिला रुतविज्ञेयसा रसा।
हिमार्द्र वालुकैस्तीरैः सरिता भाति साम्प्रतम्।
जराजर्जरितैः पद्मैः शीर्णकेसरकर्णिकैः।
नालशेषैर्हिमध्वस्तैर्न भाति कमलाकरः।

और तुलसीदास जी के लक्ष्मण राम से यह सुन रहे हैं कि—

गो गोचर जहँ लगि मन जाई।
सो सब माया जानेहु भाई॥

इतना होने पर भी गोस्वामी जी सच्चे सहृदय भावुक भक्त थे; इस जगत् के 'सियाराममय' स्वरूपों से वे अपने हृदय को अलग कैसे रख सकते थे। जब कि उनके सारे स्नेह-संबंध राम के नाते से थे,

तब चित्रकूट आदि रम्य स्थलों के प्रति उनके हृदय में गूढ़ अनुराग कैसे न होता, उनके रूप की एक एक छटा की ओर उनका मन कैसे न आकर्षित होता? जिस भूमि को देखने के लिये उत्कंठित होकर वे अपने चित्त से कहते थे—

अब चित चेत चित्रकूटहि चलु।

भूमि बिलोकु राम-पद-अंकित बन बिलोकु रघुबर-बिहार-थलु।

उसके रूप की ओर वे कैसे ध्यान न देते? चित्रकूट उन्हें कैसे अच्छा न लगता? गीतावली में उन्होंने चित्रकूट का बहुत विस्तृत वर्णन किया है। यह वर्णन शुष्क प्रथा-पालन नहीं है, उस भूमि की एक एक वस्तु के प्रति उमड़ते हुए अनुराग का उद्गार है। उसमें कहीं कहीं प्रचलित संस्कृत कवियों का सूक्ष्म निरीक्षण और संश्लिष्ट योजना पाई जाती है; जैसे—

सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु-रँगमगे संृगनि।
मनहुँ आदि अंभोज बिराजत सेवित सुरमुनि-भृंगनि॥
सिखर-परस घन घटहि मिलति बग-पाँति सो छबि कबि बरनी।
आदि बराह बिहरि बारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी॥
जल-जुत बिमल सिलनि झलकत नभ बन-प्रतिबिंब तरंग।
मानहुँ जग-रचना बिचित्र बिलसति बिराट अँग अंग॥
मंदाकिनिहि मिलत झरना झरि झरि भरि भरि जल आछे।
तुलसी सकल सुकृत सुख लागे मानौ राम भगति के पाछे॥

इस दृश्य की संश्लिष्ट योजना पर ध्यान दीजिए। इसमें यों ही नहीं कह दिया गया है कि 'बादल छाए हैं' और 'बगलों की पाँति उड़ रही है'। मंद मंद गरजते हुए काले बादल गेरू से रँगे (लाल) शृंगों से लगे दिखाई देते हैं और उन शिखरस्पर्शी घटाओं से मिली श्वेत बकपंक्ति दिखाई दे रही है। केवल 'जलद' न कहकर उसमें वर्ण और ध्वनि का भी विन्यास किया गया है। वर्ण के उल्लेख से "जलद" पद में बिंबग्रहण कराने की जो सामर्थ्य आई

थी, वह रक्ताभ शृंग के योग में और भी बढ़ गई और बगलों की श्वेत पंक्ति ने मिलकर तो चित्र को पूरा ही कर दिया। यदि ये तीनों वस्तुएँ—मेघमाला, शृंग और बकपंक्ति—अलग अलग पड़ी होतीं, उनकी संश्लिष्ट योजना न की गई होती, तो कोई चित्र ही कल्पना में उपस्थित न होता। तीनों का अलग अलग अर्थ-ग्रहण मात्र हो जाता, बिंबग्रहण न होता। इसी प्रकार काली शिलाओं पर फैले हुए जल के भीतर आकाश और वनस्थली का प्रतिबिंब देखना भी सूक्ष्म निरीक्षण सूचित करता है। अलंकारों पर 'वाह वाह' न कहने पर शायद अलंकार-प्रेमी लोग नाराज़ हो रहे हों; उनसे अत्यंत नम्र निवेदन है कि यहाँ विषय दूसरा है।

अब यहाँ प्रश्न यह होता है कि गोस्वामी जी ने सारा वर्णन इसी पद्धति से क्यों नहीं किया। गोस्वामी जी हिंदी कवियों की परंपरा से लाचार थे। कहीं कहीं इस प्रकार की संश्लिष्ट योजना और सूक्ष्म निरीक्षण का जो विधान दिखाई पड़ता है, उसे ऐसा समझिए कि वह उनकी भावमग्नता के कारण आप से आप हो गया है। तुलसीदास जी के पहले तीन कैंड़े के कवि हिंदी में हुए थे—एक तो वीरगाथा गानेवाले पुराने चारण; दूसरे प्रेम की कहानी कहनेवाले मुसलमान कवि; और तीसरे केवल वंशीवट और यमुना-तट तक दृष्टि रखनेवाले पद गानेवाले कृष्णभक्त कवि। इनमें से किसी की दृष्टि विश्वविस्तृत नहीं थी। भक्तिमार्ग के संबंध से तुलसीदास जी का सान्निध्य सूरदास आदि तीसरे वर्ग के कवियों से ही अधिक था। पर उक्त वर्ग में सब से श्रेष्ठ कवि जो सूरदास जी हैं, उन्होंने भी स्थलों और ऋतुओं आदि का जो कुछ वर्णन किया है, वह एक दूसरे भाव के उद्दीपन की दृष्टि से। वर्णन की शैली भी उनकी वही पिछले खेवे के कवियों की है जिसमें गिनाई हुई वस्तुओं का उल्लेख मात्र अलंकारों से लदा हुआ होता है। ऐसी अवस्था में भी गोस्वामी जी की लेखनी से जो कहीं कहीं प्राचीन कवियों के अनुरूप संश्लिष्ट

चित्रण हुआ है, वह उनके हृदय का स्वाभाविक विस्तार प्रकट करता है और उन्हें हिंदी के कवियों में सब से ऊँचे ले जाता है।

पर गोस्वामी जी के अधिकांश वर्णन पिछले कवियों के ढंग पर शब्द-सौन्दर्य-प्रधान ही हैं जिनमें वस्तुओं का परिगणन मात्र है: जैसे—

(क) झरना झरहिं सुधासम बारी। त्रिविध-ताप-हर त्रिविध बयारी॥
बिटप बेलि तृन अगनित जाती। फल प्रसून पल्लव बहु भाँती॥
सुंदर सिला सुखद तरु छाहीं। जाइ बरनि बन छबि केहि पाहीं॥

सरनि सरोरुह जल बिहग कूजन, गुंजत भृंग।
बैर-बिगत बिहरत बिपिन मृग बिहंग बहुरंग॥

(ख) बिटप बेलि नव किसलय, कुसुमति सघन सुजाति।
कंद मूल जलथल रुह अगनित अनवन भाँति॥
मंजुल मंजु, बकुल कुल, सुर तरु, ताल तमाल।
कदलि कदंब सुचंपक पाटल, पनस रसाल॥
सरित सरन सरसीरुह फूले नाना रंग।
गुंजत मंजु मधुपगन कूजत बिबिध बिहंग॥

पिछले कवियों की शैली पर वर्णन करने में भी वे सबसे बढ़े चढ़े हैं। यह चित्रकूट-वर्णन देखिए—

फटिक सिला मृदु बिसाल, संकुल सुरतरु तमाल,
ललित लता जाल हरति छबि बितान की।
मंदाकिनी तटिनि तीर, मंजुल मृग बिहग भीर,
धीर मुनि गिरा गभीर सामगान की॥
मधुकर पिक बरहि मुखर, सुंदर गिरि निर्झर झर,
जल कन, छन छाँह, छन प्रभा न भान की।
सब ऋतु ऋतुपति प्रभाउ, संतत बहै त्रिविध बाउ,
जनु बिहार बाटिका नृप पंच-बान की॥

इस वर्णन से इस बात का इशारा मिलता है कि गोस्वामी जी ऋतु-वर्णन करने में रीति-ग्रंथों में गिनाई वस्तुओं तक ही नहीं रहते हैं—वे अपनी आँखों से भी पूरा काम लेते हैं। "ऋतुपति" की शोभा के भीतर केवल रीति पर चलनेवाले मोर नहीं लाया करते; पर तुलसीदास जी ने उनकी बोली नहीं बंद की। केवल पद्धति का अनुसरण करनेवाले कवि वर्षाकाल में कोकिल को मौन कर देते हैं। पर तुलसीदास अपने कानों की कहाँ तक उपेक्षा करते? वे गीतावली के उत्तर कांड में हिंडोले के प्रसंग में वर्षा का वर्णन करते हुए कहते हैं—

दादुर मुदित, भरे सरित सर, महि उमग जनु अनुराग।
पिक, मोरे, मधुप, चकोर चातक सोर उपवन बाग॥

उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टांत आदि के साथ गुथे वर्णन भी बहुत से हैं, पर उनमें वस्तुओं और व्यापारों का उल्लेख बहुत पूर्ण है। चित्रकूट की वस्तुओं और व्यापारों को लेकर उन्होंने होली का उत्सव खड़ा किया है—

आजु बन्यो है बिपिन देखो रामधीर। मानो खेलत फागु मुद मदनबीर॥
बट बकुल कदंब पनस रसाल। कुसुमति तरु निकर, कुरव तमाल॥
मानो बिबिध बेष धरे छैल जूथ। बिच बीच लता ललना बरूथ॥
पन बानक निर्भर, अलि उपंग। बोलत पारावत मानो डफ मृदंग॥
गायक सुक कोकिल, झिल्लि ताल। नाचत बहु भाँति बरहि मराल॥

पर उनकी यह उत्प्रेक्षा भी उल्लास-सूचक है। इसी प्रकार भागवत के दृष्टांत—उदाहरण लेकर उन्होंने किष्किंधा कांड में वर्षा और शरत् का वर्णन किया है जिससे प्रस्तुत वस्तु और व्यापार दृष्टांतों के सामने दबे से हैं। श्रोता या पाठक का ध्यान वर्ण्य वस्तुओं की ओर जमने नहीं पाता। फिर भी जहाँ जहाँ स्थल-वर्णन का अवसर आया है, वहाँ वहाँ उन्होंने वस्तुओं और व्यापारों का प्रचुर उल्लेख करते हुए विस्तृत वर्णन किया है। केशवदास के समान नहीं

किया है कि पंचवटी का प्रसंग आया तो बस "सब जाति फटी दुख की दुपटी" करके और अपना यह श्लेष चमत्कार दिखाकर चलते बने—

सोभत दंडक की रुचि बनी। भाँतिन भाँतिन सुंदर घनी॥
सेव बड़े नृप की जनु लसै। श्रीफल भूरि भाव जहँ लसै॥
बेर भयानक सी अति लगै। अर्क समूह जहाँ जगमगै॥

अब कहिए, इसमें "श्रीफल" "बेर" और "अर्क" पदों के श्लेष के सिवा और क्या है? चित्रण क्या, यह तो वर्णन भी नहीं है। इसमें "हृदय" का तो कहीं पता ही नहीं है। क्या "बेर" को देखकर भयानक प्रलय काल की ओर ध्यान जाता है और आक को देख प्रलय काल के अनेक सूर्य्यों की ओर? इससे तो साफ़ झलकता है कि पंचवटी क वन-दृश्य से केशव के हृदय का कुछ भी सामंजस्य नहीं है। उस दृश्य से उनके हृदय में किसी प्रकार के भाव का उदय नहीं हुआ।

दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि वाल्मीकि, कालिदास आदि प्राचीन कवियों ने वृक्षों आदि के उल्लेख में देश का पूरा ध्यान रक्खा है—जैसे, हिमालय के वर्णन में भूर्ज, देवदारु आदि; दक्षिण के वर्णन में एला, लवंग, ताल, नारिकेल, पुंगीफल आदि का उल्लेख है। गोस्वामी जी ने भी देश का ध्यान रक्खा है। चित्रकूट के वर्णन में कहीं एला, लवंग, पुंगीफल का नाम वे नहीं लाए हैं। पर केशवदास जी मगध के पुराने जंगल के वर्णन में, वृक्षों के जो जो नाम याद आए हैं, उन्हें अनुप्रास की बहार दिखाते हुए जोड़ते चले गए हैं—

तरु तालीस तमाल ताल हिंताल मनोहर।
मंजुल बंजुल तिलक लकुच कुल नारिकेल वर॥
एला ललित लवंग संग पुंगीफल सोहै।
सारी शुक कुल कलित चित्त कोकिल अलि मोहै॥

केशवदास जी ने इस बात का कुछ भी विचार न किया कि

एला, लवंग और पुंगीफल अयोध्या और मिथिला के बीच के जंगलों में होते भी हैं या नहीं।

भिन्न भिन्न व्यापारों में तत्पर मनुष्य की मुद्रा का चित्रण भी रूप-प्रत्यक्षीकरण में बहुत प्रयोजनीय है। पर यह हम गोस्वामी जी को छोड़ और किसी में पाते ही नहीं। और कवियों ने केवल अनुभव के रूप में भ्रूभंग आदि का वर्णन किया है; पर लक्ष्य साधने, किसी का मार्ग देखने आदि व्यापारों में जो स्वाभाविक मुद्रा मनुष्य की होती है, उसके चित्रण की ओर उनका ध्यान नहीं गया है। गोस्वामी जी ने ऐसा चित्रण किया है। देखिए, आखेट के समय मृग को लक्ष्य करके बाण खींचते हुए रामचंद्र का कैसा चित्र उन्होंने सामने खड़ा किया है—

सुभग सरासन सायक जोरे।
खेलत राम फिरत मृगया वन बसती सो मृदुमूरति मन मोरे।
जटा मुकुट सिर सारस-नयननि गौंहें तकत सुभौंह सकोरे॥

मारीच के पीछे लक्ष्य साधते हुए राम की छवि देखिए—

जटा मुकुट कर सर धनु संग मरीच।
चितवनि बसति कनखियनु अँखियन बीच॥

एक और चित्र देखिए। शबरी की झोपड़ी की ओर राम आनेवाले हैं। वह उनके लिये मीठे मीठे फल इकट्ठे करके कभी भीतर जाती है, कभी बाहर आकर भौं पर हाथ रक्खे हुए मार्ग की ओर ताकती है—

अनुकूल अंबक अंब ज्यों निज डिंभ हित सब आनिकै।
सुंदर सनेह-सुधा सहस जनु सरस राखे सानिकै।
छन भवन छन बाहर बिलोकति पंथ भू पर पानि कै।

निशाना साधने में भौं सिकोड़ना और रास्ता देखने में माथे पर हाथ रखना कैसी स्वाभाविक मुद्राएँ हैं।

दृश्यों को सामने रखने में गोस्वामी जी ने अत्यन्त परिमार्जित

रुचि का परिचय दिया है। वे ऐसे दृश्य सामने नहीं लाए हैं जो भद्दे या कुरुचि-पूर्ण कहे जा सकें। उदाहरण के लिये भोजन का दृश्य लीजिए। 'मानस' में दो प्रसंगों में इसके अवसर आए हैं— राम की बाल-लीला के प्रसंग में और विवाह के प्रसंग में। दोनों अवसरों पर उन्होंने भोजन के दृश्य का विस्तार नहीं किया है। दशरथ भोजन कर रहे हैं; इतने में—

> धूसर धूरि भरे तनु आए। भूपति विहँसि गोद बैठाए॥
> भोजन करत चपल चित इत उत अवसरु पाइ।
> भाजि चले किलकत मुख दधि ओदन लपटाइ॥

भोजन का यह उल्लेख बाल-क्रीड़ा और बाल चपलता का चित्रण करने के लिये है। पकवानों के नाम गिनाते हुए भोजन के वर्णन का विस्तार उन्होंने नहीं किया है। इसी प्रकार विवाह के अवसर पर भी भोजन का वर्णन नहीं है। किसी भद्दी रुचिवाले को यह बात खटकी और उसने उनके नाम पर रामकलेवा बना डाला।

अब सूर और जायसी को देखिए। वे लड्डू, पेड़ा, जलेबी, पूरी, कचौरी, बड़ा, पकौड़ी, मिठाइयों और पकवानों के जितने नाम याद आए हैं—या लोगों ने बताए हैं—सब रखते चले गए हैं। जायसी तो कई पृष्ठों तक इसी तरह गिनाते गए हैं—

> लुचुई पूरि सोहारी पूरी। इक तौ ताती औ सुठि कोंवरी॥
> भूँजि समोसा घी मँह काढ़े। लौंग मिरिच तेहि भीतर ठाढ़े॥

इसी प्रकार चावलों और तरकारियों के पचीसों नाम देख लीजिए। सूरदास जी ने भी यही किया है। 'नंदबवा' कृष्ण को लेकर खाने बैठे हैं। उनके सामने क्या क्या रक्खा है, देखिए—

> लुचुई, लपसी, सद्य जलेबी सोइ जेंवहु जो लगै पियारी॥
> घेवर, मालपुवा, मोति लाडू सुघर सजूरी सरस सँवारी॥
> दूध बरा, उत्तम दधि, बाटी, दाल मसूरी की रुचि न्यारी।
> आछो दूध औटि धौरी को मैं ल्याई रोहिणि महतारी॥

इन नामों को सुनकर अधिक से अधिक यही हो सकता है कि श्रोताओं के मुँह में पानी आ जाय। भोजन का ऐसा दृश्य सामने रखना साहित्य के मर्मज्ञ आचार्य्यों ने भी काव्य-शिष्टता के विरुद्ध समझा था; इसीसे उन्होंने नाटक में इसका निषेध किया था—

दूराह्वानं, वधो, युद्धं, राज्यदेशादिविप्लवः।
विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्यूरतं तथाः॥

कुछ हिन्दी कवियों ने बहुत सी वस्तुओं की लंबी सूची देने को ही वर्णन-पटुता समझ लिया था। इसके द्वारा मनुष्य के भिन्न भिन्न व्यवसाय-क्षेत्रों की अपनी जानकारी भी वे प्रकट करना चाहते थे। घोड़ों का प्रसंग आया तो बस "ताज़ी, अरबी, अबलक, मुश्की" गिना चले। हथियारों का प्रसंग आया तो सैंकड़ों की फिहरिस्त मौजूद है। महाराज रघुराजसिंह ने तो यह समझिए कि अपने समय के राजसी ठाठ और जलूस के सामान गिनाने के लिये ही "राम-स्वयंवर" लिखा। इस प्रणाली का सब से अधिक अनुसरण सूदन ने किया है। उनके 'सुजान-चरित्र' को तो हथियारों, घोड़ों, कपड़ों, सामानों की एक पुस्तकाकार नामावली समझिए।

गोस्वामी जी को यह हवा बिलकुल न लगी। इस अनर्गल विधान से दूर रहकर उन्होंने अपने गौरव और गांभीर्य्य की पूर्ण रक्षा की।

वस्तु-प्रत्यक्षीकरण के संबंध में यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि वह काव्य का साध्य नहीं है। यदि वह साध्य या चरम लक्ष्य होता तो किसी कुरसी या गाड़ी का सूक्ष्म वर्णन भी काव्य कहला सकता। पर काव्य में तो उन्हीं वस्तुओं का वर्णन प्रयोजनीय होता है जो विभाग के अंतर्गत होती हैं अथवा उनसे सम्बद्ध होती हैं। अतः "काव्य एक अनुकरण कला है" यूनान के इस पुराने वाक्य को बहुत दूर तक ठीक न समझना चाहिए। कवि और चित्रकार का साध्य एक ही नहीं है। जो चित्रकार का साध्य है, वह कवि का साधन है। पर इसमें सन्देह नहीं कि यह साधन सब से आवश्यक

और प्रधान है। इसके बिना काव्य का स्वरूप खड़ा ही नहीं हो सकता।

अलंकार-विधान

भावों का जो स्वाभाविक उद्रेक और विभावों का जो स्पष्ट प्रत्यक्षीकरण गोस्वामी जी में पाया जाता है, उसका दिग्दर्शन तो हो चुका। अब जरा उनके अलंकारों की बानगी भी देख लेनी चाहिए। भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी कभी सहायक होनेवाली युक्ति ही अलंकार है। अतः अलंकारों की परीक्षा हम इसी दृष्टि से करेंगे कि वे कहाँ तक उक्त प्रकार से सहायक हैं। यदि किसी वर्णन में उनसे इस प्रकार की कोई सहायता नहीं पहुँचती है, तो वे काव्यालंकार नहीं, भार मात्र हैं। यह ठीक है कि वाक्य की कुछ विलक्षणता—जैसे श्लेष और यमक—द्वारा श्रोता या पाठक का ध्यान आकर्षित करने के लिये भी अलंकार की थोड़ी बहुत योजना होती है, पर उसे बहुत ही गौण समझना चाहिए। काव्य की प्रक्रिया के भीतर ऊपर कही बातों में से किसी एक में भी जिस अलंकार से सहायता पहुँचती है, उसे हम अच्छा कहेंगे और जिससे कई एक में एक साथ सहायता पहुँचती है, उसे बहुत उत्तम कहेंगे।

अलंकार के स्वरूप की ओर ध्यान देते ही इस बात का पता चल जाता है कि वह कथन की एक युक्ति या वर्णनशैली मात्र है। यह शैली सर्वत्र काव्यालंकार नहीं कहला सकती। उपमा को ही लीजिए जिसका आधार होता है सादृश्य। यदि कहीं सादृश्य-योजना का उद्देश बोध कराना मात्र है तो वह काव्यालंकार नहीं। "नीलगाय गाय के सदृश होती है" इसे कोई अलंकार नहीं कहेगा। इसी प्रकार "एक रूप तुम भ्राता दोऊ। तेहि भ्रम ते नहिं मारेउ ओऊ॥" में भ्रम अलंकार नहीं है। केवल "वस्तुत्व" या "प्रमेयत्व"

जिसमें हो, वह अलंकार नहीं*। अलंकार में रमणीयता होनी चाहिए। चमत्कार न कहकर रमणीयता हम इसलिये कहते हैं कि चमत्कार के अंतर्गत केवल भाव, रूप, गुण या क्रिया का उत्कर्ष ही नहीं, शब्द-कौतुक और अलंकार-सामग्री की विलक्षणता भी ली जाती है। जैसे, बादल के स्तूपाकार टुकड़े के उपर निकले हुए चंद्रमा को देख यदि कोई कहे कि "मानो ऊँट की पीठ पर घंटा रक्खा हुआ है" तो कुछ लोग अलंकार-सामग्री की इस विलक्षणता पर—कवि की इस दूर की सूझ पर-ही वाह वाह करने लगेंगे। पर इस उत्प्रेक्षा से ऊपर लिखे प्रयोजनों में से एक भी सिद्ध नहीं होता। बादल के ऊपर निकलते हुए चंद्रमा को देख हृदय में स्वभावतः सौंदर्य्य की भावना उठती है। पर ऊँट पर रक्खा हुआ घंटा कोई ऐसा सुंदर दृश्य नहीं जिसकी योजना से सौंदर्य्य के अनुभव में कुछ और वृद्धि हो। भावानुभव में वृद्धि करने के गुण का नाम ही अलंकार की रमणीयता है।

अब गोस्वामी जी के कुछ अलंकारों को हम इस क्रम से लेते हैं (१) भावों की उत्कर्ष व्यंजना में सहायक (२) वस्तुओं के रूप (सौंदर्य, भीषणत्व आदि) का अनुभव तीव्र करने में सहायक (३) गुण का अनुभव तीव्र करने में सहायक (४) क्रिया का अनुभव तीव्र करने में सहायक।

(१) भावों की उत्कर्ष-व्यंजना में सहायक अलंकार

अशोक के नीचे राम के विरह में सीता को चाँदनी धूप सी लगती है—

> डहकु न है उँजियरिया निसि नहिं घाम।
> जगत जरत अस लागु मोहिं बिनु राम॥

---

* साधर्म्यं कविसमयप्रसिद्धं कान्तिमत्त्वादि न तु वस्तुत्वप्रमेयत्वादि ग्राह्यम्।
—विद्याधर।

यह निश्चयालंकार सीता के विरह-संताप का उत्कर्ष दिखाने में सहायक है। इसी विरहसंताप की प्रचंडता असिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा द्वारा भी दिखाई गई है—

जेहि वाटिका वसति तहँ खग मृग तजि तजि भजे पुरातन भौन।
स्वाँस समीर भेंट भइ, भोरेहु तेहि मग पगु न धर्‍यो तिहुँ पौन॥

मरते हुए जटायु से राम कहते हैं कि मेरे पिता से सीता-हरण का समाचार न कहना।

सीता-हरन, तात, जनि कहेउ पिता सन जाइ।
जो मैं राम तो कुल सहित कहहि दसानन आइ॥

यह 'पर्यायोक्ति' राम की धीरता और सुशीलता की व्यंजना में कैसी सहायता करती हुई बैठी है। राम सीता-हरण के समाचार द्वारा अपने पिता को स्वर्ग में भी दुखी करना नहीं चाहते। साथ ही अपनी धीरता भी अत्यंत संकोच और शिष्टता के साथ प्रकट करते हैं। 'राम' कैसा अर्थान्तरसंक्रमित पद है।

राम की चढ़ाई का हाल सुनकर इतनी घबराहट हुई, इतनी आशंका फैली कि "बसत गढ़ लंक लंकेस रावन अछत लंक नहिं खात कोउ भात राँध्यो।" यहाँ आशंका को व्यक्त करने में लक्षणा और व्यंजना के मेल से 'विभावना' कितना काम दे रही है।

देखिए, यह रूपक रतिभाव की अनन्यता दिखाने के लिये कैसा दृश्य ऊपर से ला रहा है—

तृषित तुम्हरे दरस कारन चतुर चातक दास।
वपुष-बारिद बरषि छवि-जल हरहु लोचन प्यास॥

एक नई उपमा देखिए। जब कोई राजा धनुष न तोड़ सका, तब जनक ने क्षोभ से भरे उत्तेजक वचन कहे जिन्हें सुनकर लक्ष्मण को तो अमर्ष हुआ, पर अभिमानी राजाओं की यह दशा हुई—

"जनक-बचन छुए बिरवा लजारू के से बीर रहे सकल सकुच सिर नाइ कै।"

इस उपमा में "लज्जा" का उत्कर्ष भी है और क्रिया भी ठीक बिंब-प्रतिबिंब-रूप में है; अतः यह बहुत ही अच्छी है।

उन्हीं राजाओं की ईर्ष्या इस विभावना द्वारा कही गई है—
"नीच महिपावली दहन बिनु दही है।"

राम की निस्पृहता और संतोष का ठीक अंदाज कराने के लिये उपमा और रूपक के सहारे कैसी बातें सामने लाए हैं—

असन अजरिन को समुझि तिलक तज्यो,
विपिन गवनु भले भूखे अव सुनाजु भो।
धरमधुरीन धीर वीर रघुवीर जू को,
कोटि राज सरिस भरत जू को राज भो॥

दो भावों के द्वंद्व का कैसा सुंदर और स्पष्ट चित्र इस रूपक में मिलता है—

मन अगहुँड़ तनु पुलक सिथिल भयो, नलिन-नयन भरे नीर।
गड़त गोड़ मानो सकुच पंक महँ, कढ़त प्रेम-बल धीर॥

कौशल्या अपने गंभीर वात्सल्य प्रेम का प्रकाश इस पर्यायोक्ति द्वारा जिस प्रकार कर रही है, वह अत्यंत उत्कर्ष-सूचक होने पर भी बहुत ही स्वाभाविक है—

राघव एक बार फिरि आवौ।
ए बर बरजि बिलोकि आपने बहुरो वनहिं सिधावौ॥
जे पय प्याइ पोषि कर-पंकज वार वार चुचुकारे।
क्यों जीवहिं, मेरे राम लाड़िले ! ते अव निपट बिसारे॥
सुनहु पथिक जो राम मिलहिं वन कहियो मातु-सँदेसो।
तुलसी मोहिं और सबहिन तें इनको बड़ो अँदेसो॥

जिसके वियोग में घोड़े इतने विकल हैं; उसके वियोग में माता को क्या दशा होगी यह, समझने की बात है।

"जासु बियोग बिकल पसु ऐसे। कहहु मातु पितु जीवहिं कैसे॥

'पर्य्यायोक्ति' का आश्रय लोग स्वभावतः किस अवस्था में लेते हैं, यह राम का इन शब्दों में आज्ञा माँगना बता रहा है—

नाथ! लषन पुर देखन चहहीं। प्रभु सकोच उर प्रकट न कहहीं॥

लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम को जो मानसिक व्यथा, जो दुःख हो रहा था, उसे लक्ष्मण ने उठकर देखा और वे कहने लगे—

हृदय घाउ मेरे, पीर रघुबीरै।
पाइ सजीवन जागि कहत यों प्रेम-पुलकि बिसराय सरीरै॥

इस 'असंगति' से सजीवनी बटी का प्रभाव (पीड़ा दूर करने का) भी प्रकट हुआ और राम के दुःख का आतिशय्य भी। अलंकार का ऐसा ही प्रयोग सार्थक है।

रावण और अंगद के संवाद में दोनों की 'व्याजनिन्दा' बहुत ही अच्छी है। रावण के इस वचन से कुछ बेपरवाई झलकती है—

धन्य कीस जो निज प्रभु काजा। जहँ तहँ नाचहिं परिहरि लाजा॥
नाचि कूदि करि लोग रिझाई। पति-हित करैं धरम-निपुनाई॥

बंदरों का आदमी के हाथ में पड़कर नाचना-कूदना एक नित्य प्रति देखी जानेवाली बात है। अंगद के इन नीचे लिखे वचनों में कैसा गूढ़ उपहास है—

नाक कान बिनु भगिनि निहारी। छमा कीन्ह तुम धरम बिचारी॥
लाजवंत तुम सहज सुभाऊ। निज मुख निज गुन कहसि न काऊ॥

(२) रूप का अनुभव तीव्र करने में सहायक अलंकार

रूप, गुण और क्रिया तीनों का अनुभव तीव्र करने के लिये अधिकतर सादृश्य-मूलक उपमा आदि अलंकारों का ही प्रयोग होता है। रूप का अनुभव प्रधानतः चार प्रकार का होता है—अनुरंजक, भयावह, आश्चर्यकारक या घृणोत्पादक। इस प्रकार के अनुभव में सहायक होने के लिये आवश्यक यह है कि प्रस्तुत वस्तु और आलंकारिक वस्तु में बिंब-प्रतिबिंब भाव हो अर्थात् अप्रस्तुत

(कवि द्वारा लाई हुई) वस्तु प्रस्तुत वस्तु से रूप-रंग आदि में मिलती जुलती हो और उससे उसी भाव के उत्पन्न होने की संभावना हो जो प्रस्तुत वस्तु से उत्पन्न हो रहा हो। अब देखिए, तुलसीदास जी के प्रयुक्त अलंकार कहाँ तक इन बातों को पूरा करते हैं।

सीता के जयमाल पहनाने की शोभा देखिए—

सतानंद सिष सुनि पायँ परि पहिराई माल
सिय पिय-हिय, सोहत सो भई है।
मानस तें निकसि विसाल सु-तमाल पर
मानहुँ मराल-पाँति बैठी बनि गई है॥

इस उत्प्रेक्षा में श्रीराम के शरीर और तमाल में श्यामता के विचार से ही विंब-प्रतिविंब भाव है, आकृति का सादृश्य नहीं है; पर मराल-पाँति और जयमाल में वर्ण और आकृति दोनों के सादृश्य से विंब-प्रतिविंब भाव बहुत पूर्णता को पहुँचा हुआ है। पर सब से बढ़कर बात तो है कि तमाल पर बैठी मरालपंक्ति का नयनाभिरामत्व कैसे प्राकृतिक क्षेत्र से सौंदर्य्य संग्रह करके गोस्वामी जी मेल रखने के लिये लाए हैं।

इसी ढंग की एक और उत्प्रेक्षा लीजिए। रणक्षेत्र में रामचंद्र जी के दूर्वादल श्याम शरीर पर रक्त की जो छींटें पड़ी हैं, वे कैसी लगती हैं—

सोनित छींटि-छटान जटे तुलसी प्रभु सोहैं महाछवि छूटी।
मानो मरकत-सैल बिसाल में फैलि चली वर बीरबहूटी॥

इसमें भी रक्त की छींटों और बीरबहूटियों में वर्ण और आकृति दोनों के विचार से विंब प्रतिविंब है, पर शरीर और मरकत-शिला में केवल वर्ण का सादृश्य है। पर आकृति का ब्योरा अधिक न मिलना कोई त्रुटि नहीं है; क्योंकि प्रेक्षक कुछ दूर पर खड़ा माना जायगा। इसी प्रकार देखिए, तट पर से खड़े होकर देखनेवाले को गंगा-यमुना के संगम की छटा कैसी दिखाई पड़ती है—

सोहैं सितासित को मिलिबो तुलसी हुलसै हिय हेरि हिलोरे।
मानो हरे तृन चारु चरैं बगरे सुरधेनु के धौल कलोरे॥

एक और सुंदर 'उत्प्रेक्षा' लीजिए—

लता भवन तें प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग विमल विधु जलद पटल बिलगाइ॥

इस उत्प्रेक्षा में मेघखंड के बीच से प्रकट होते हुए चंद्रमा का मनोरम दृश्य लाया गया है जो प्रस्तुत दृश्य की मनोहरता के अनुभव को बढ़ानेवाला है। नेत्र शीतल करने का गुण भी राम-लक्ष्मण और चंद्रमा दोनों में है।

'रूपकातिशयोक्ति' का प्रयोग बहुत से कवियों ने इस ढंग से किया है कि वह एक पहेली सी हो गई है। पर गोस्वामी जी ने उसे अपनी प्रबंध-धारा के भीतर बड़े स्वाभाविक ढंग से बैठाया है—ऐसे ढंग से बैठाया है कि वह अलंकार जान ही नहीं पड़ती, क्योंकि उसमें अप्रस्तुत भी वन के भीतर प्रस्तुत समझे जा सकते हैं। सीता के वियोग में वन वन फिरते हुए राम कहते हैं—

खंजन, शुक, कपोत, मृग, मीना। मधुप निकर कोकिला प्रवीना॥
कुंदकली, दाड़िम, दामिनी। शरद कमल, शशि, अहि-भामिनी॥
वरुण पाश मनोज, धनु, हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा॥
श्रीफल, कमल, कदलि, हरखाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं॥

गोस्वामी जी की प्रबंध-कुशलता विलक्षण है जिससे प्रकरण-प्राप्त वस्तुएँ अलंकार-सामग्री का काम भी देती चलती हैं। इससे होता यह है कि अलंकारों में कृत्रिमता नहीं आने पाती। रंग-भूमि में इधर राम आते हैं, उधर सूर्य का उदय होता है। इस बात पर कवि को यह अपन्हुति सूझती है—

रवि निज उदय-ब्याज रघुराया। प्रभुप्रताप सब नृपन दिखाया॥

भिन्न भिन्न गुणों के आश्रयत्व से एक ही राम को गोस्वामी जी ने इतने विभिन्न (कहीं कहीं तो बिलकुल विरुद्ध) रूपों में 'उल्लेख' के

सहारे दिखाया है कि जो बेचारे अलंकार-सलंकार नहीं जानते, वे इसे राम की दिव्य विभूति समझकर ही प्रसन्न हो जाते हैं। देखिए—

जिनकै रही भावना जैसी। हरि मूरति देखी तिन्ह तैसी॥
देखहिं भूप महा रनधीरा। मनहुँ बीर रस धरे सरीरा॥
डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी। मनहुँ भयानक मूरति भारी॥
पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नर भूषन लोचन-सुखदाई॥
रहे असुर छल छोनिप बेषा। तिन प्रभु प्रकट काल सम देखा॥

अलंकार के निर्वाह का वे पूरा ध्यान रखते थे। हिरन के पीछे दौड़ते हुए राम को पंचशर कामदेव बनाना है, इसके लिये देखिए इस भ्रमालंकार में वे शरों की गिनती किस प्रकार पूरी करते हैं—

सर चारिक चारु बनाइ कसे कटि, पानि सरासन सायक लै।
बन खेलत राम फिरैं मृगया, तुलसी छबि सो बरनै किमि कै॥
अवलोकि अलौकिक रूप मृगी चौंकि चकैं चितवैं चित दै।
न डगैं, न भगैं जिय जानि सिलीमुख पंच धरे रतिनायक है॥

प्रकरण-प्राप्त वस्तुओं के भीतर से ही वे प्रायः अलंकार की सामग्री चुनते हैं। इस 'निदर्शना' में उसका एक और सुंदर उदाहरण लीजिए। विश्वामित्र के साथ जाते हुए बालक राम-लक्ष्मण उनकी नजर बचाकर कहीं धूल कीचड़ में खेल भी लेते हैं जिसके दाग कहीं कहीं बदन पर दिखाई पड़ते हैं—

सिरनि सिखंड सुमन-दल मंडन बाल सुभाय बनाए।
केलि-अंक तनु रेनु पंक जनु प्रगटत चरित चुराए॥

कवि लोग कभी कभी दूर की उड़ान भी मारा करते हैं। गोस्वामी जी ने भी कहीं कहीं ऐसा किया है। सीता के रूप-वर्णन में यह "अतिशयोक्ति" देखिए—

जो छबि-सुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छप सोई॥
सोभा-रजु मंदर सिंगारू। मथै पानि-पंकज निज मारू॥

यहि बिधि उपजै लच्छि जब सुंदरता सुखमूल।
तदपि सकोच समेत कबि कहहिं सीय सम तूल॥

चंद्रमा के काले दाग पर यह अप्रस्तुत प्रशंसा देखिए—

कोउ कह जब बिधि रतिमुख कीन्हा। सार भाग ससि कर हरि लीन्हा॥
छिद्र सो प्रगट इंदु उर माहीं। तेहि सम देखिय नभ परछाहीं॥

रूप-संबंधी कुछ और उक्तियाँ देखिए—

(क) सम सुबरन सुषमाकर सुखद न थोर।
सीय अंग, सखि, कोमल, कनक कठोर॥
सियमुख सरद कमल जिमि किमि कहि जाइ।
निसि मलीन वह, निसि दिन यह बिगसाइ॥ (व्यतिरेक)

(ख) सिय तुव अंग रंग मिलि अधिक उदोत।
हार बेलि पहिरावौं चंपक होत॥ (मीलित)

(ग) चंपक-हरवा अँग मिलि अधिक सुहाइ।
जानि परै सिय-हियरे जब कुम्हिलाइ॥ (उन्मीलित)

(घ) केस मुकुत, सखि, मरकत मनिमय होत।
हाथ लेत पुनि मुकुता करत उदोत॥ (अतद्गुण)

(च) मुख—अनुहरिया केवल चंद समान। (प्रतीप)

(छ) द्वैभुज कर हरि रघुबर सुंदर वेष।
एक जीभ कर लछिमन दूसर शेष॥
(हीन अभेद रूपक)

जहाँ वस्तु या व्यापार अगोचर होता है, वहाँ अलंकार उसके अनुभव में सहायता गोचर रूप प्रदान करके करता है; अर्थात् वह पहले गोचर-प्रत्यक्षीकरण करके बोध-वृत्ति की कुछ सहायता करता है, तब फिर रागात्मिका वृत्ति को उत्तेजित करता है। जैसे, यदि कोई आनेवाली बिपत्ति या अनिष्ट का कुछ भी ध्यान न करके अपने रंग में मस्त रहता हो और कोई उसको देखकर कहे कि—"चरै हरित तृण बलि पशु जैसे" तो इस कथन से उसकी दशा का प्रत्यक्षीकरण

कुछ अधिक हो जायगा जिससे उसमें भय का संचार पहले से कुछ अधिक हो सकता है।

'भव-बाधा' कहने से कोई विशेष रूप सामने नहीं आता, सामान्य अर्थ ग्रहण मात्र हो जाता है। इससे गोस्वामी जी उसे व्याल का गोचर रूप देते हुए 'परिकरांकुर' का अवलंबन करते हुए कहते हैं—

तुलसिदास भवव्याल-ग्रसित तव सरन उरगरिपु गामी॥

इसी प्रकार कैकेयी की भीषणता सामने खड़ी की गई है—

लखी नरेस बात यह साँची। तिय मिस मीच सीस पर नाची॥

(२) क्रिया का अनुभव तीव्र करने में सहायक अलंकार

क्रिया और गुण का अनुभव तीव्र कराने के लिये प्रस्तुत अप्रस्तुत वस्तु के बीच या तो 'अनुगामी' (एक ही) धर्म होता है, या 'वस्तु-प्रति-वस्तु' या उपचरित। सीधी भाषा में यों कह सकते हैं कि अलंकार के लिये लाई हुई वस्तु और प्रसंग प्राप्त-वस्तु का धर्म या तो एक ही होता है, या अलग अलग कहे जाने पर भी दोनों के धर्म समान होते हैं; अथवा एक के धर्म का उपचार दूसरे पर किया जाता है; जैसे, उसका हृदय पत्थर के समान है।

देखिए, केवल क्रिया की तीव्रता का अनुभव कराने के लिये इस 'ललितोपमा' का प्रयोग हुआ है—

मारुतनंदन मारुत को, मन को, खगराज का वेग लजायो।

सीता के प्रति कहे हुए रावण के वचन को सुनकर हनुमान जी को जो क्रोध हुआ, उसके वर्णन में इस रूपक का प्रयोग भी ऐसा ही है—

अकनि कटु बानी कुटिल की क्रोध-विंध्य बढ़ोइ।
सकुचि राम भयो ईस-आयसु-कलसभव जिय जोइ॥

इसमें क्रिया या वेग को छोड़ प्रस्तुत अप्रस्तुत में रूप आदि का

कोई सादृश्य नहीं है। पर गोस्वामी जी के ग्रंथों में ऐसे स्थल भी बहुत से मिलते हैं जिनमें बिंब-प्रतिबिंब भाव से प्रस्तुत और अप्रस्तुत की स्थिति भी है और धर्म भी वस्तु-प्रतिवस्तु है। एक उदाहरण लीजिए—

वालधि बिसाल बिकराल ज्वाल-जाल मानौ
लंक लीलिवे को काल रसना पसारी है।
कैधौं व्योम-बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु
बीर रस बीर तरवारि सी उघारी है॥
तुलसी सुरेस-चाप, कैधौं दामिनी-कलाप
कैधौं चली मेरु तें कृसानु सरि भारी है।

इसमें 'उत्प्रेक्षा' और 'संदेह' का व्यवहार किया गया है। इधर उधर घूमती हुई जलती पूँछ तथा काल की जीभ और तलवार में बिंब-प्रतिबिंब भाव (रूपसादृश्य) भी है तथा संहार करने और दाह करने में वस्तु-प्रतिवस्तु धर्म भी है। इस दृष्टि से यह अलंकार बहुत ही अच्छा है।

दो एक जगह ऐसे उपमान भी मिलते हैं जिनमें कवि के अभिप्रेत विषय में तो सादृश्य है, पर शेष विषयों में इतना अधिक असादृश्य है कि उपमान की हीनता खटकती है; जैसे—

सेवहिं लषन सीय रघुबीरहिं। जिमि अविवेकी पुरुष सरीरहिं॥

पर कहीं कहीं इस हीनता को कुछ अपने ऊपर लेकर गोस्वामी जी ने उसका सारा दोष हर लिया है—

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुबंस निरंतर, प्रिय लागहु मोहिं राम॥

नीचे लिखे 'रूपक' में उपमान और उपमेय का अनुगामी (एक ही) धर्म बड़ी ही सुंदर रीति से आया है—

नृपन केरि आसा-निसी नासी। बचन-नखत-अवली न प्रकासी॥
मानी-महिप-कुमुद सकुचाने। कपटी भूप उलूक लुकाने॥

इसमें ध्यान देने की पहली बात यह है कि केवल क्रिया का सादृश्य है, रूप आदि का कुछ भी सादृश्य नहीं है। दूसरी बात यह है कि यद्यपि यहाँ 'सकुचना' और 'लज्जित होना' आए हैं, पर रूपक का उद्देश्य इन भावों का उत्कर्ष दिखाना नहीं है, बल्कि एक साथ इतनी भिन्न भिन्न क्रियाओं का होना ही दिखाना है।

एक ही क्रिया का संबंध अनेक पदार्थों से दिखाती हुई यह 'तुल्ययोगिता' भी बड़ी ही सटीक बैठी है—

सब कर संसय अरु अज्ञानू। मंद महीपन कर अभिमानू।
भृगुपति केरि गर्व गरुआई। सुर मुनिवरन केरि कदराई॥
सिय कर सोच, जनक-परितापा। रानिन कर दारुन दुख दापा॥
संभुचाप बड़ बोहित पाई। चढ़े जाइ सब संग बनाई॥

प्रबंधधारा के बीच यह अलंकार ऐसा मिला हुआ है कि ऊपर से देखने में इसकी अलंकारता प्रकरण से अलग नहीं मालूम होती। 'बोहित' को छोड़ और कोई सामग्री कवि-प्रतिभाप्रदत्त या ऊपर से लाई हुई नहीं है। हाँ, वस्तुओं की जो सुंदर योजना है, वह अवश्य कवि की प्रतिभा का फल है। यही प्रतिभा कवि को प्रबंध-रचना का अधिकार देती है; कौतुकी कवियों की वह प्रतिभा नहीं जो पंचवटी की शोभा के वर्णन के समय प्रलयकाल के बारहो सूर्य उतार लाती है। प्राप्त प्रसंग के गोचर अगोचर सब पक्षों तक जिसकी दृष्टि पहुँचती है, किसी परिस्थिति में अपने को डालकर उसके अंग प्रत्यंग का साक्षात्कार जिसका विशाल अंतःकरण कर सकता है, वही प्रकृत कवि है। जी न चाहने पर भी विवश होकर यह कहना पड़ता है कि गोस्वामी जी को छोड़ हिंदी के और किसी कवि में वह प्रबंधपटुता नहीं जो महाकाव्य की रचना के लिये आवश्यक है। प्रकरण-प्राप्त विषयों को अलंकार-सामग्री बनाते हुए किस प्रकार वे स्थान स्थान पर प्रबंधप्रवाह के भीतर ही अलंकारों का

विधान भी करते चलते हैं, यह हम दिखाते आ रहे हैं। एक और उदाहरण लीजिए जिसमें 'सहोक्ति' द्वारा एक ही क्रिया (धनुभंग) का कैसा विशद संग्राहक रूप दिखाया गया है—

गहि करतल, मुनि पुलक सहित, कौतुकहि उठाइ लियो।
नृपगन मुखनि समेत नमित करि सजि सुख सबहि दियो॥
आकरष्यो सिय-मन समेत हरि, हरष्यो जनक हियो।
भंज्यो भृगुपति-गर्व-सहित, तिहुँ लोक विमोह कियो॥

परिणाम का स्वरूप आगे रखकर कर्म की भयंकरता अनुभव कराने का कैसा प्रकृत प्रयत्न इस 'अप्रस्तुत प्रसंसा' में दिखाई पड़ता है—

मातु-पितहि जनि सोच-बस करसि महीपकिसोर।

इसी प्रकार कर्म के स्वरूप को एकबारगी नज़र के सामने लाने के लिये 'ललित' अलंकार द्वारा उसका यह गोचर स्वरूप सामने रखा गया है—

यहि पापिनिहि सूझि का परेऊ। छाए भवन पर पावक धरेऊ॥

क्रूर और नीच मनुष्य यदि कभी आकर नम्रता प्रकट करे तो इसे बहुत डर की बात समझना चाहिए। नीचों की नम्रता की यह भयंकरता गोस्वामी जी ने बड़े ही अच्छे ढंग से गोचर की है—

नवनि नीच कै अति दुखदाई। जिमि अंकुस, धनु, उरग, बिलाई।

यही बात दोहावली में दूसरे ढंग से कही गई है—

मिलै जो सरलहि सरल ह्वै, कुटिल न सहज बिहाइ।
सो सहेतु, ज्यों वक्रगति व्याल न बिलै समाइ॥

जिसे हम पचासों बार दुष्टता करते देख चुके हैं, वह यदि कभी बहुत सीधा बनकर आवे तो यह समझ लेना चाहिए कि वह अपना कोई मतलब निकालने के लिये तैयार हुआ है। मतलब निकालने के लिये तैयार दुष्ट संसार में कितनी भयंकर वस्तु है!

क्रोध से भरी कैकेयी राम को वन भेजने पर उद्यत होकर खड़ी

होती है। उस समय उसके कर्म और संकल्प की सारी भीषणता गोचर नहीं हो रही है। देश और काल का व्यवधान पड़ता है। इससे गोस्वामी जी रूपक द्वारा उसे प्रत्यक्ष कर रहे हैं—

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। मानहुँ रोष-तरंगिनि बाढ़ी॥
पाप-पहार प्रगट भइ सोई। भरी क्रोध-जल जाइ न जोई॥
दोउ बर कूल, कठिन हठ धारा। भँवर कूबरी-बचन प्रचारा॥
ढाहत भूप-रूप तरु-मूला। चली बिपति-बारिधि-अनुकूला॥

'पाप' और 'पहाड़' तथा 'क्रोध' और 'जल' में यहाँ अनुगामी धर्म है, शेष में वस्तु-प्रतिवस्तु। जैसे नदी के दो कूल होते हैं, वैसे ही उसके क्रोध के दो पक्ष दोनों वर हैं; जैसे धारा में वेग होता है, वैसे ही हठ में है जैसे; भँवर मनुष्य का निकलना कठिन कर देता है, वैसे ही कूबरी के वचन परिस्थिति और कठिन कर रहे हैं। यह सांग रूपक कैकेयी के कर्म की भीषणता को खूब आँख के सामने ला रहा है। भाव या क्रिया की गहनता द्योतित करने के लिये गोस्वामी जी ने प्राय: नदी और समुद्र के रूपक का आश्रय लिया है। चित्रकूट में अपने भाइयों के सहित रामचंद्र जनक से मिलकर उन्हें अपने आश्रम पर ले जा रहे हैं। वह समाज ऐसे शोक से भरा हुआ था जिसका प्रत्यक्षीकरण इस 'रूपक' के ही द्वारा अच्छी तरह हो सकता था—

आश्रम-सागर-सांतरस पूरन पावन पाथ।
सेन मनहुँ करुना-सरित लिए जाहिं रघुनाथ॥

बोरति ज्ञान बिराग करारे। बचन ससोक मिलत नदनारे॥
सोच-उसास समीर तरंगा। धीरज तट तरुवर कर भंगा॥
विषम बिषाद तुरावति धारा। भय भ्रम भँवर अवर्त्त अपारा॥
केवट बुध, बिद्या बड़ि नावा। सकहिं न खेइ एक नहिं आवा॥
आश्रम-उदधि मिली जब जाई। मनहुँ उठेउ अंबुधि अकुलाई॥

(४) गुण का अनुभव तीव्र करने में सहायक अलंकार

देखिए, इस 'व्यतिरेक' की सहायता से संतों का स्वभाव किस सफ़ाई के साथ औरों से अलग करके दिखाया गया है—

संत-हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन पै कहइ न जाना॥
निज परिताप द्रवै नवनीता। पर दुख द्रवैं सुसंत पुनीता॥

संतों और असंतों के बीच के भेद को थोड़ा कहते कहते 'व्याघात' द्वारा कितना बड़ा कह डाला है, जरा यह भी देखिए—

बंदौं संत असज्जन चरना। दुखप्रद उभय, बीच कछु बरना॥
मिलत एक दारुन दुख देहीं। बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं॥

इस इतने बड़े भेद को थोड़ा कहनेवाले का हृदय कितना बड़ा होगा!

कवि लोग अपनी चतुराई दिखाने के लिये श्लेष, कूट, प्रहेलिका आदि लाया करते हैं, पर परम भावुक गोस्वामी जी ने ऐसा कहीं नहीं किया। एक स्थान पर ऐसी युक्ति-पटुता है, पर वह आख्यान-गत पात्र का चातुर्य्य दिखाने के लिये ही है। लक्ष्मण से शूर्पणखा के नाक-कान काटने के लिये राम इस तरह इशारा करते हैं—

वेद नाम कहि, अँगुरिन खंडि अकास।
पठयो सूपनखाहि लषन के पास॥
(वेद = श्रुति = कान। आकाश = स्वर्ग = नाक)

गोस्वामी जी की रचना में बहुत से स्थल ऐसे भी हैं, जहाँ यह निश्चय करने में गड़बड़ी हो सकती है कि यहाँ अलंकार है या भाव। इसकी संभावना वहीं होगी जहाँ स्मरण, सन्देह और भ्रान्ति का वर्णन होगा। स्मरण का यह उदाहरण लीजिए—

बीच बास करि जमुनहिं आए। निरखि नीर लोचन जल छाए।

इसे न विशुद्ध अलंकार ही कह सकते हैं, न भाव ही। उपमेय और उपमान (राम का शरीर, जमुना का जल) के सादृश्य की

ओर ध्यान देते हैं तो स्मरण अलंकार ठहरता है; और जब अश्रु सात्त्विक की ओर देखते हैं तो स्मरण संचारी भाव निश्चित होता है। सच पूछिए तो इसमें दोनों हैं। पर इसमें संदेह नहीं कि भाव का उद्रेक अत्यंत स्वाभाविक है और यहाँ वही प्रधान है, जैसा कि "लोचन जल छाए" से प्रकट होता है। विशुद्ध अलंकार तो वहीं कहा जा सकता है जहाँ सदृश वस्तु लाने में कवि का उद्देश्य केवल रूप, गुण या क्रिया का उत्कर्ष दिखाना रहता है। अलंकार का स्मरण प्रायः वास्तविक नहीं होता; रूप-गुण आदि के उत्कर्ष-प्रदर्शन का एक कौशल मात्र होता है। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि स्मरण भाव केवल सदृश वस्तु से ही नहीं होता, संबंधी वस्तु से भी होता है। शुद्ध 'स्मरण' भाव का यह उदाहरण बहुत ही अच्छा है—

जननी निरखति बान धनुहियाँ।
बार बार उर नयननि लावति प्रभुजू की ललित पनहियाँ।

अब भ्रम का एक ऐसा ही उदाहरण लीजिए। सीता जी अपने जलने के लिये अशोक से अंगार माँग रही थीं। इतने में हनुमान ने पेड़ के ऊपर से राम की 'मनोहर मुद्रिका' गिराई और—

"जानि असोक-अँगार सीय हरषि उठि कर गह्यो"।

इसी प्रकार जहाँ उत्तरकांड में अयोध्या की विभूति का वर्णन है, वहाँ कहा गया है कि—

"मनि मुख मेलि डारि कपि देहीं"।

इन दोनों उदाहरणों में 'भ्रम' अलंकार नहीं है। अलंकार में भ्रम के विषय की विशेषता होती है, भ्रान्त की नहीं। भ्रान्त की विशेषता में तो पागलों का भ्रम भी अलंकार हो जायगा। सीता का जो भ्रम है, वह विरह की विह्वलता के कारण और बंदरों का जो भ्रम है, वह पशुत्व के कारण। इस प्रकार का भ्रम अलंकार नहीं, यह बात आचार्य्यों ने स्पष्ट कह दी है—

मर्मप्रहारकृत-चित्तविक्षेप-विरहादिकृतोन्मादादि-
जन्य भ्रान्तेश्च नालंकारत्वम् ।

—उद्योतकर ।

संदेह के संबंध में भी यही बात समझिए जो ऊपर कही गई है। तीनों में सादृश्य आवश्यक है । संदेह तो अलंकार तभी होगा जब उस को लाने का मुख्य उद्देश्य रूप, गुण, क्रिया का उत्कर्ष (अपकर्ष भी) सूचित करना होगा। ऐसा संदेह वास्तविक भी हो सकता है, पर वहाँ अलंकारत्व कुछ दबा सा रहेगा। जैसे, "की मैनाक कि खग-पति होई" में जो संदेह है, वह कवि के प्रबंध-कौशल के कारण वास्तविक भी है तथा आकार की दीर्घता और वेग की तीव्रता भी सूचित करता है। पर नीचे लिखा उदाहरण यदि लीजिए तो उसमें कुछ भी अलंकारत्व नहीं है—

की तुम हरिदासन महँ कोई । मोरे हृदय प्रीति अति होई ॥
की तुम राम दीन-अनुरागी । आए मोहिं करन बड़भागी ॥

अलंकार का विषय समाप्त करने के पहले दो चार बातें कह देना आवश्यक है। पहली बात तो यह है कि सब अलंकार आने पर भी गोस्वामी जी की रचना कहीं ऐसी नहीं है कि पहले अलंकार का पता लगाया जाय तब अर्थ खुले। जो अलंकार का नाम तक नहीं जानते, वे भी अर्थ ग्रहण करके पूरा आनंद उठाते हैं। एक बिहारी हैं कि पहले 'नायिका' का पता लगाइए, फिर अलंकार निश्चित कीजिए, और तब दोनों की सहायता से प्रसंग की ऊहा कीजिए, तब जाकर कहीं अर्थ से भेंट हो। गोस्वामी जी की इस अद्भुत विशेषता का कारण है उनकी अपूर्व प्रबंध-पटुता जिसके बल से उन्होंने अपनी प्रबंधधारा के साथ, अधिकतर प्रकरण-प्राप्त वस्तुओं को ही लेकर, अलंकारों को इस सफ़ाई से मिलाया है कि जोड़ मालूम नहीं पड़ता।

ध्यान देने की दूसरी बात यह है कि गोस्वामी जी श्लेष, यमक, मुद्रा आदि खेलवाड़ों के फेर में एक तरह से बिल्कुल नहीं पड़े हैं।

इसका मतलब यह नहीं कि शब्दालंकार का सौन्दर्य्य उनमें नहीं। ओज, माधुर्य्य आदि का विधान करनेवाले वर्णविन्यास का आश्रय उन्होंने लिया है। उनकी रचना शब्दसौन्दर्य्य-पूर्ण है। अनुप्रास के तो वे बादशाह थे। अनुप्रास किस ढंग से लाना चाहिए, उनसे यह सीखकर यदि बहुत से पिछले फुटकरिए कवियों ने अपने कवित्त सवैये लिखे होते, तो उनमें वह भद्दापन और अर्थन्यूनता न आने पाती। तुलसी की रचना में कहीं कहीं एक ही वर्ण की आवृत्ति सारे चरण में यहाँ से वहाँ तक चली गई है, पर प्रसंग-बाह्य या भरती का शब्द एक भी नहीं। दो नमूने बहुत होंगे—

(क) जग जाँचिए कोउ न, जाँचिए जौ, जिय जाँचिए जानकी-जानहि रे।

जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ जो जारति जोर जहानहि रे॥

(ख) खल परिहास होहि हित मोरा। काक कहहिं कलकंठ कठोरा॥

और उदाहरण ढूँढ़ लीजिए; कुछ भी कष्ट न होगा; जहाँ ढूँढ़िएगा, वहीं मिलेंगे।

अर्थश्लेष, परिसंख्या जैसे कृत्रिमता लानेवाले अलंकारों का व्यवहार भी इनकी रचनाओं में नहीं मिलता। इस प्रसिद्ध उदाहरण को छोड़, हम समझते हैं, परिसंख्या का शायद ही कोई और उदाहरण इनकी रचनाओं भर में मिले—

दंड जतिन कर, भेद जहँ नर्त्तक नृत्य-समाज।
जितहु मनहिं अस सुनिय जग रामचंद्र के राज॥

शब्दश्लेष का उदाहरण भी बहुत ढूँढ़ने पर शायद ही इस तरह का कोई और मिल जाय—

रावण सिर-सरोज-बनचारी। चली रघुबीर-शिलीमुख धारी॥

पर न मिलना ही अच्छा है। यहीं उसकी करतूत देख लीजिए कि वह क्या कर रहा है। रावण के सिर पर जाकर बाण-भ्रमर सिवा इसके कि मकरंद-पान करें और अधिक कर क्या सकते हैं

जिससे रावण का कुछ बिगड़े ? पर बेचारे गोस्वामी जी करते क्या ? उन्हें तो रामचरित की ओर सब प्रकार के लोगों को आकर्षित करना था; जो जिस रुचि से आकर्षित हो, उसी से सही। इससे उन्होंने अलंकार की भद्दी रुचि रखनेवालों को भी निराश नहीं किया और इस तरह के भी कुछ अलंकार कहे जिस तरह का विनय-पत्रिका में यह 'सांग रूपक' है—

सोइय सहित सनेह देह भरि कामधेनु कलि कासी।
मरजादा चहुँओर चरन घर सेवत सुरपुरवासी॥
तीरथ सब सुभ अंग, रोम सिवलिंग अमित अविनासी।
अंतरअयन अयन भल थन, फल बच्छ बेदविस्वासी॥
गलकंबल बरुना बिभाति, जनु लूम लसति सरितासी।
लोलदिनेस त्रिलोचन लोचन, करनघंट घंटा सी॥

कहिए, काशी की इन वस्तुओं का सींग, पूँछ, गलकंबल आदि के साथ कहाँ तक सादृश्य है ! अनुगामी धर्म, वस्तु-प्रतिवस्तु धर्म, उपचरित धर्म, बिंबप्रतिबिंब रूप आदि ढूँढ़ने से कहाँ तक मिल सकते हैं ? 'घंटा' और 'करनघंटा' में तो केवल शब्दात्मक सादृश्य ही है। इसी प्रकार विनयपत्रिका में अर्द्धनारीश्वर शिव को वसंत बनाया है और गीतावली में चित्रकूट की वनस्थली को होली का स्वाँग। पर फिर भी यही कहना पड़ता है कि इसमें गोस्वामी जी का दोष नहीं; यह एक वर्ग विशेष की रुचि का प्रसाद है। इतनी विस्तृत रचना के भीतर दो चार ऐसे स्थलों से उनके रुचिसौन्दर्य्य में अणु-मात्र भी संदेह नहीं उत्पन्न हो सकता।

उक्ति-वैचित्र्य

उक्ति-वैचित्र्य से यहाँ हमारा अभिप्राय उस बेपर की उड़ान से नहीं है जिसके प्रभाव से कवि लोग जहाँ रवि भी नहीं पहुँचता, वहाँ से अपनी उत्प्रेक्षा, उपमा आदि के लिये सामग्री लिया करते

हैं। मेरा अभिप्राय कथन के उस अनूठे ढंग से है जो उस कथन की ओर श्रोता को आकर्षित करता है तथा उसके विषय को और विषयों से कुछ अलग करके दिखलाता है। ऐसी उक्तियों में कुछ तो शब्द की लक्षणा व्यंजना शक्ति का आश्रय लिया जाता है और कुछ काकु, पर्य्यायोक्ति ऐसे अलंकारों का। ऐसी उक्तियाँ गोस्वामी जी की रचनाओं में भरी पड़ी हैं; अतः केवल दो चार का दिग्दर्शन ही यहाँ हो सकता है।

राम की शोभा वर्णन करते हुए एक स्थान पर कवि कहता है—"मनहुँ उमगि अँग अँग छवि छलकै"। इस 'छलकै' शब्द में कितनी शक्ति है! इसका वाच्यार्थ अत्यन्त तिरस्कृत है। लक्षणा से इसका अर्थ होता है—"प्रभूत परिमाण में प्रकट होना"। पर 'अभिधा' द्वारा इस प्रकार कहने से वैसी तीव्र अनुभूति नहीं उत्पन्न हो सकती।

'विनयपत्रिका' में गोस्वामी जी राम से कहते हैं—

"हौं सनाथ ह्वैहौं सही, तुमहूँ अनाथपति जौं लघुतहि न भितैहौ"

'लघुता से भयभीत होना' कैसी विलक्षण उक्ति है, पर साथ ही कितनी सच्ची है! शानदार अमीर लोग गरीबों से क्यों नहीं बातचीत करते? उनकी 'लघुता' ही के भय से न? वे यही न डरते हैं कि इतने छोटे आदमी के साथ बातचीत करते लोग देखेंगे तो क्या कहेंगे। अतः लघुता से भयभीत होने में जो एक प्रकार का विरोध सा लक्षित होता है, वह हृदय पर किस शक्ति के साथ प्रभाव डालता है!

राम के वन चले जाने पर कौशल्या दुःख से विह्वल होकर कहती हैं—

"हौं घर रहि मसान-पावक ज्यों मरिबोइ मृतक दह्यो है"।

कौशल्या को घर श्मशान सा लग रहा है। इस श्मशान की अग्नि में कौशल्या को भस्म हो जाना चाहिए था। पर वे कहती हैं कि इस अग्नि में भस्म होना चाहिए था मुझे, पर जान पड़ता है कि

मैंने अपनी मृत्यु का शव ही इसमें जलाया है। भाव तो यही है कि मुझे मृत्यु भी नहीं आती, पर अनूठे ढंग से व्यक्त किया गया है। ऐसी ऐसी उक्तियों के लिये अंगरेज़ महाकवि शेक्सपियर प्रसिद्ध हैं।

अब कौशल्या जी मरती क्यों नहीं इसका कारण उन्हीं के मुख से सुनिए—

लगे रहत मेरे नयननि आगे राम लषन अरु सीता।

* * * * *

दुख न रहै रघुपतिहि विलोकत, मनु न रहै बिनु देखे॥

राम-लक्ष्मण की मूर्त्ति हृदय से हटती ही नहीं, बिना उनकी मूर्त्ति सामने लाए मन से रहा ही नहीं जाता। और जब उनकी मूर्त्ति मन के सामने आ जाती है तब दुःख नहीं रह जाता। मरें तो कैसे मरें?

एक और उक्ति सुनिए, जो है तो साधारण ही, पर एक अपूर्वता के साथ—

"कियो न कछू, करिबो न कछू, कहिबो न कछू मरिबोइ रह्यो है"

और सब काम तो मैं कर चुका, मरने का काम भर और रह गया है। किसी अँगरेज़ कवि ने भी कहीं इसी भाव से कहा है—
I have my dying to do.

लोग मैत्री और प्रीति तो बड़े इत्मीनान के साथ धीरे धीरे करते हैं, पर एक ज़रा सी बात पर उसे चट तोड़ देते हैं—

"थोरेहि कोप कृपा पुनि थोरेहि, बैठि के जोरत तोरत ठाढ़े"।

यहाँ 'बैठि' और 'ठाढ़े' दोनों का लक्ष्यार्थ ध्यान देने योग्य है। इसी प्रकार की एक और लक्षणा देखिए—

"बड़े ही समाज आज राजनि की लाजपति हाँकि आँक एक ही पिनाक छीनि लई है"।

एक स्थान पर गोस्वामी जी एक ही क्रिया के दो ऐसे कर्म लाए हैं जो परस्पर अत्यन्त विजातीय होने के कारण बहुत ही अनूठे लगते हैं।

हनुमान् जी पर्वत लिए हुए राम के पास आ पहुँचते हैं; इस पर—
"बेग,बल साहस सराहत कृपा-निधान, भरत की कुसल अचल लाए चलिकै"।

भरत की कुशल और पर्वत दोनों लाए। इसमें चमत्कार दोनों वस्तुओं के अत्यन्त विजातीय होने के कारण है। अँगरेज़ उपन्यासकार डिकेंस (Dickens) को ऐसे प्रयोग बहुत अच्छे लगते थे; जैसे, "इस बात ने उसकी आँखों से आँसू और जेब से रूमाल निकाल दिया"—This drew tears from her eyes and handkerchief from her pocket.

भाषा पर अधिकार

भाषा पर जैसा अधिकार गोस्वामी जी का था, वैसा और किसी हिन्दी कवि का नहीं। पहली बात तो यह ध्यान देने की है कि 'अवधी' और 'व्रज' काव्यभाषा की दोनों शाखाओं पर उनका समान और पूर्ण अधिकार था। रामचरित-मानस को उन्होंने 'अवधी' में लिखा है जिसमें पूरबी और पछाँही (अवधी) दोनों का मेल है। कवितावली विनय और गीतावली तीनों की भाषा व्रज है। कवितावली तो व्रज की चलती भाषा का एक सुंदर नमूना है। पार्वतीमंगल, जानकीमंगल और रामलला-नहछू ये तीनों पूरबी अवधी में हैं। भाषा पर ऐसा विस्तृत अधिकार और किस कवि को था? न सूर अवधी लिख सकते थे, न जायसी व्रज।

गोस्वामी जी की कैसी चलती हुई मुहाविरेदार भाषा है, दो चार उदाहरण देकर दिखलाया जाता है—

(क) बात चले बात को न मानिबो बिलग, बलि, काकी सेवा रीझि कै निवाजो रघुनाथ जू?

(ख) सब की न कहैं, तुलसी के मते उतनो जग जीवन को फल है।

(ग) प्रसाद रामनाम के पसारि पायँ सूतिहौं।

(घ) सो सनेह समउ सुमिरि तुलसी हू के से भली भाँति, भले पैंत, भले पाँसे परिगे।

(च) ऐहै कहा नाथ ? आयो ह्याँ, क्यों कहि जात बनाई है। (आवेगा क्या आया है)

लोकोक्तियों के प्रयोग भी स्थान स्थान पर मिलते हैं, जैसे—

(क) माँगि कै खैबो मसीद को सोइबो, लैबे को एक न दैबे को दोऊ।

(ख) मनमोदकनि कि भूख बुताई।

पर सबसे बड़ी विशेषता गोस्वामी जी की है भाषा की सफाई और वाक्य-रचना की निर्दोषता जो हिंदी के और किसी कवि में ऐसी नहीं पाई जाती। यही दो बातें न होने से इधर के शृंगारी कवियों की कविता और भी पढ़े-लिखे लोगों के काम की नहीं हुई। हिंदी का भी व्याकरण है, 'भाषा' में भी वाक्य-रचना के नियम हैं, अधिकतर लोगों ने इस बात को भूलकर कवित्त-सवैयों के चार पैर खड़े किए हैं। गोस्वामी जी के वाक्यों में कहीं शैथिल्य नहीं है, एक भी शब्द ऐसा नहीं है जो पादपूर्त्यर्थं रखा हुआ कहा जा सके। ऐसी गठी हुई भाषा किसी की नहीं है। उदाहरण देने की न जगह ही है, न उतनी आवश्यकता ही। सारी रचना इस बात का उदाहरण है। एक ही चरण में वे बहुत सी बातें इस तरह कह जाते हैं, कि न कहीं से शैथिल्य आता है न न्यूनपदत्व—

परुष वचन अति दुसह श्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
विगत मान सम-सीतल मन पर गुन, नहिं दोष, कहौंगो॥

कहीं कहीं तो ऐसा है कि पद भर में यहाँ से वहाँ तक एक ही वाक्य चला गया है, पर क्या मजाल कि अंत तक एक सर्वनाम में भी त्रुटि आने पावे—

जेहि कर अभय किए जन आरत वारक बिबस नाम टेरे।

जेहि कर-कमल कठोर संभुधनु भंजि जनक-संसय मेट्यो॥
जेहि कर-कमल उठाइ बंधु ज्यों परम प्रीति केवट भेंट्यो।
जेहि कर-कमल कृपालु गीध कहँ उदक देइ निज लोक दियो।
जेहि कर बालि बिदारि दास-हित कपिकुलपति सुग्रीव कियो॥
आए सरन सभीत विभीषन जेहि कर-कमल तिलक कीन्हों।
जेहि कर गहि सरचाप असुर हति अभयदान देवन दीन्हों॥
सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति पाप ताप माया।
निसिबासर तेहि कर-सरोज की चाहत तुलसिदास छाया॥

कैसा सुव्यवस्थित वाक्य है। और कवियों के साथ तो तुलसी का मिलान ही क्या। 'वाक्य दोष' हिंदी में भी हो सकते हैं, इसका ध्यान तो बहुत कम लोगों को रहा। सूरदास जी भी इस बात में तुलसी से बहुत दूर हैं। उनके वाक्य कहीं कहीं उखड़े से हैं, उनमें वह संबंध-व्यवस्था नहीं है। उनके पदों के कुछ अंश नीचे नमूने के लिये दिए जाते हैं—

(क) श्रवण चीर अरु जटा बँधावहु ये दुख कौन समाहीं।
चंदन तजि अँग भस्म बतावत विरह-अनल अति दाहीं॥
(ख) कै कहुँ रंक, कहूँ ईश्वरता नट बाजीगर जैसे।
चेत्यो नहीं गयो टरि अवसर मीन बिना जल जैसे॥
(ग) भाव भक्ति जहँ हरि जस सुनयो तहाँ जात अलसाई।
लोभातुर हैं काम मनोरथ तहाँ सुनत उठि धाई॥

इस प्रकार की शिथिलता तुलसीदास जी में कहीं न मिलेगी। लिंग आदि का भी सूरदास जी ने कम ध्यान रखा है; जैसे—

कागरूप इक दनुज धर्यो
बीत्यो जाय ज्वाव जब आयो सुनहु कंस तेरो आयु सर्यो।

इसी प्रकार तुकान्त और छंद के लिये शब्दों के रूप भी सूरदास जी ने बहुत बिगाड़े हैं; जैसे—

(क) पलित केस, कफ कंठ विरोध्यो, कल न परी दिन राती।
माया मोह न छाँड़ै तृष्णा, ये दोऊ दुख-दाती ॥
(ख) रामभक्त वत्सल निज बानो।
राजसूय में चरन पखारे श्याम लिए कर पानो।

क्या यह कहने की आवश्यकता है कि तुलसीदास जी को यह सब करने की आवश्यकता नहीं पड़ी है? लिंग-भेद में तो एक एक मात्रा का उन्होंने ध्यान रखा है—

राम सत्य संकल्प प्रभु सभा काल बस तोरि।
मैं रघुबीर-सरन अब जाउँ देहु नहिं खोरि ॥

कहीं एकाध जगह इस प्रकार का लिंग-विपर्य्यय—

मर्म वचन जब सीता बोला। हरि प्रेरित लछिमन मन डोला ॥

अथवा वाक्यों की ऐसी अक्रमता

घुँघरारी लटैं लटकैं मुख ऊपर, कुंडल लोल कपोलन की।
निवछावरि प्रान करै तुलसी, बलि जाउँ लला इन बोलन की ॥

कोई भले ही दिखा दे, पर वह अधिक नहीं पा सकता। सर्वत्र वही परिष्कृत गठी हुई सुव्यवस्थित भाषा मिलेगी।

कुछ खटकनेवाली बातें

इतनी विस्तृत रचना के भीतर दो चार खटकनेवाली बातें भी मिलती हैं, जिनका संक्षेप में उल्लेख-मात्र यहाँ कर दिया जाता है—

(१) ऐतिहासिक दृष्टि की न्यूनता। इस दोष से तो शायद ही कोई बच सकता हो। किसी की रचना हो, उसके समय का आभास उसमें अवश्य रहेगा। इसीसे ऋषियों के आश्रमों और विभीषण के दरवाज़े पर गोस्वामी जी ने तुलसी का पौधा लगाया है और राम के मस्तक पर रामानंदी तिलक। राम वैदिक समय में थे। उनके समय में न तो रामानंदी तिलक की महिमा लोगों को मालूम हुई

थी और न तुलसी की। राम के सिर पर जो चौगोशिया टोपी रखी है, उसका तो कोई ख्याल ही नहीं।

(२) भक्ति-संप्रदायवालों की ईश्वर की कुछ भक्तमाली कथाओं पर गोस्वामी जी ने जो आस्था प्रकट की है, वह उनके गौरव के बहुत अनुकूल नहीं है। जैसे—

आँधरो, अधम, जड़, जाजरो-जरा जवन,
सूकर के सावक ढका ढकेल्यो मग में॥
गिरो हिय हहरि, "हराम हो, हराम हन्यो"
हाय हाय करत परीगो कालफँग में॥
तुलसी विसोक ह्वै त्रिलोकपति-लोक गयो
नाम के प्रताप, बात विदित है जग में॥

(३) इसी नाम-प्रताप को राम के प्रताप से भी बड़ा कहने का (राम तें अधिक राम कर नामा) प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। सच्ची भक्ति से कोई मतलब नहीं, टीका लगाकर केवल 'राम राम' रटना बहुत से आलसी अपाहिजों का काम हो गया। एक धनाढ्य महंत जिस गाँव में छापा डालते हैं, वहाँ के मजदूरों को बुलाकर उनसे दो तीन घंटे राम राम रटाते हैं और जितनी मजदूरी उन्हें खेत में काम करने से मिलती, उतनी गाँववालों से वसूल करके दे देते हैं।

(४) वाल्मीकि ने पंचवटी के मार्ग ही में एक बार जटायु से भेंट होना लिखा है; पर गोस्वामी जी ने इसे छोड़ दिया है जिससे जटायु का रावण के हाथ में पड़ी सीता को पहचानना और उनकी रक्षा में तत्पर होना कुछ असम्बद्ध सा लगता है।

(५) दोहों में कहीं कहीं मात्राएँ कम होती हैं और सवैयों में भी कहीं कहीं वर्ण घटे-बढ़े हैं।

(६) अंगद और रावण का संवाद राजसभा के गौरव और सभ्यता के विरुद्ध है। पर इसका मतलब यह नहीं कि गोस्वामी जी राजन्य वर्ग की शिष्टता का चित्रण नहीं कर सकते थे। राजसमाज

के सभ्य भाषण का अत्यंत सुंदर नमूना उन्होंने चित्रकूट में एकत्र सभा के बीच दिखाया है। पर राक्षसों के बीच शिष्टता, सभ्यता आदि का उत्कर्ष वे दिखाना नहीं चाहते थे।

हिंदी-साहित्य में गोस्वामी जी का स्थान

जो कुछ लिखा जा चुका, उससे तुलसीदास जी की विशेषताएँ कुछ न कुछ अवश्य स्पष्ट हुई होंगी। काव्य के प्रत्येक क्षेत्र में हमने उन्हें उस स्थान पर देखा, जिस स्थान पर उस क्षेत्र का बड़े से बड़ा कवि है। मानव अंतःकरण की सूक्ष्म से सूक्ष्म वृत्तियों तक हमने उनकी पहुँच देखी। बाह्य जगत् के नाना रूपों के प्रत्यक्षीकरण में भी हमने उन्हें तत्पर पाया। काव्य के बहिरंग-विधान की सुंदर प्रणाली का परिचय भी हमें मिला। अब उनकी सब से बड़ी विशेषता की ओर एक बार फिर ध्यान आकर्षित करके यह वक्तव्य समाप्त किया जाता है।

यह सबसे बड़ी विशेषता है उनकी प्रबंधपटुता जिसके बल से आज 'रामचरितमानस' हिंदी समझनेवाली हिन्दू जनता के जीवन का साथी हो रहा है। तुलसी की वाणी मनुष्य-जीवन की प्रत्येक दशा तक पहुँचनेवाली है; क्योंकि उसने रामचरित का आश्रय लिया है। रामचरित जीवन की सब दशाओं की समष्टि है, इसका प्रमाण "रामाज्ञाप्रश्न" है जिससे लोग हर एक प्रकार की आनेवाली दशा के संबंध में प्रश्न करते और उत्तर निकालते हैं। जीवन की इतनी दशाओं का पूर्ण मार्मिकता के साथ जो चित्रण कर सका, वही सब से बड़ा भावुक और सबसे बड़ा कवि है, उसीका हृदय लोक-हृदय-स्वरूप है। शृंगार, वीर आदि कुछ गिने गिनाए रसों के वर्णन में ही निपुण कवि का अधिकार मनुष्य की दो एक वृत्तियों पर ही समझिए, पर ऐसे महाकवि का अधिकार मनुष्य की संपूर्ण भावात्मक सत्ता पर है।

अतः केशव, बिहारी आदि के साथ ऐसे कवि को मिलाने के

लिये रखना उसका अपमान करना है। केशव में हृदय का तो कहीं पता ही नहीं। वह प्रबंध-पटुता भी उनमें नाम को नहीं जिससे कथानक का संबंध-निर्वाह होता है। उनकी रामचंद्रिका फुटकर पद्यों का संग्रह सी जान पड़ती है। वीरसिंहदेवचरित में उन्होंने अपनी हृदय-हीनता की ही नहीं, प्रबंधरचना की भी पूरी असफलता दिखा दी है। विहारी रीति-ग्रन्थों के सहारे जबरदस्ती जगह निकाल निकालकर दोहों के भीतर शृंगार रस के विभाव अनुभाव और संचारी ही भरते रहे। केवल एक ही महात्मा और हैं जिनका नाम गोस्वामी जी के साथ लिया जा सकता है और लिया जाता है। वे हैं प्रेमस्रोत-स्वरूप भक्तवर सूरदास जी। जब तक हिंदी-साहित्य और हिंदीभाषी हैं, तब तक सूर और तुलसी का जोड़ा अमर है। पर जैसा कि दिखाया जा चुका है, भाव और भाषा दोनों के विचार से गोस्वामी जी का अधिकार अधिक विस्तृत है। न जाने किसने 'यमक' के लोभ से यह दोहा कह डाला कि "सूर सूर तुलसी ससी, उडुगन केशवदास"। यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सबसे अधिक विस्तृत अधिकार रखनेवाला हिंदी का सबसे बड़ा कवि कौन है तो उसका एक मात्र यही उत्तर ठीक हो सकता है कि भारत-हृदय, भारतीकंठ भक्तचूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास।

आषाढ़ी पूर्णिमा,
संवत १९८०। }

रामचंद्र शुक्ल।